॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

# बिहारी-सतसई।

## भावार्थप्रकाशिकाटीकासहित

जिसको

विद्वद्वृन्द शिरोमणि-विद्यावारिधि श्रीमत्
पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्रने अति
ललित मधुर सुग्धटीकासे
सर्वांगभूषित किया है।

वही

नायकाभेद-अलंकारवर्णनसमेत,
( द्वितीय बार )

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास
अध्यक्ष "लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापेखानेमें
मैंनेजर पं० शिवदुलारे वाजपेयीने मालिकके
लिये छापकर प्रसिद्ध किया।

संवत् १९७८, शके १८४३.

कल्याण-मुंबई.

# भूमिका।

व्रजभाषाके साहित्यमें कविवर बिहारीलालकी सतसईभी अपने ढंगका एक अनूठा ग्रंथ है, ऐसा कौन भाषाका रसिक है जिसको इस सतसईके दो चार दोहे स्मरण न हों, यह ग्रन्थ जैसा सरस और मनोरम है वैसाही क्लिष्टभी है इसको निर्मित हुए अभी पूरे २५० वर्ष भी नहीं हुए हैं, कि, इतनेही समयमें इसपर बीस पचीस प्रसिद्ध टीके होचुके है।

सूरतमिश्र, कृष्णचंद्र, गोपाल, अनवरखां जुल्फिकारखां यूसुफखां, करण, रघुनाथ, लालसरदार, गंगाधर, रामबक्स, परमानन्द, जोखूरामकी कुण्डली, श्रीसाहित्याचार्यकी कुण्डली, लल्लूलालादिके बनाये टीकोंसे सतसई अपूर्व छवि धारण करचुकी है, परन्तु इन टीकोंमें पद्यरचना विशेष और गद्यरचना न्यून होनेसे कठिनपर कठिनाई पडनेसे वे सर्वसाधारणके उपयोगी नहीं हुए है, और इसी कारण अति रसीली होनेसे भी सतसई घर घर नहीं विराजती है, सर्वसाधारणकी बुद्धिमें कविवरका आशय प्रगट होजाय इसी निमित्त सर्वसाधारणके उपयोगी भावार्थप्रकाशिका टीका निर्माण कर साथमें कठिन शब्दोंके अर्थ अलंकारादि लक्षण पर और स्वनिर्मित दोहोंमें लिखकर पुनरुक्तिसे उसका विस्तार नहीं किया है, और विभाव अनुभावादिका उल्लेखमात्र करके उसके समझनेके निमित्त 'साहित्य परिचय' नामका एक पृथक् प्रबन्ध लिखा है, भावार्थ और अक्षरार्थ बहुत सरल हो इसपर विशेष दृष्टि रक्खी है और कौनसा दोहा कहाँ है इसकी खोज करनेमें परिश्रम न पडे इस कारण सतसईके दोहोंकी अकारादिक्रमसे सूची भी लिखदी है, "साहित्य परिचयसे काव्यलक्षण रसनिरूपण नायिकाभेद अलंकारादिका ज्ञान पाठकोंको सहजमें होजायगा" और इस समयकी परिपाटीके अनुसार यथामिलित विहारीदासका जीवनचरित्र भी लिखदिया है।

टीका करते समय हमने कई सतसई सन्मुख रक्खीं परन्तु एकका क्रम एकसे नहीं मिलता, तथा पाठभेदभी बहुत है इस कठिनाईके दूर करनेके निमित्त आजमसाही संग्रहके अनुरूपलल्लूजीलाल संगृहीत दोहोंका अनुसरण करके इस टीकेको निर्माण किया है।

विहारीलालकी सतसई क्रमसे निर्मित नहीं हुई, यह एक भिन्न मका ग्रंथ है। इसीकारण इसमें नायिकाभेदादिका क्रम अन्यग्रंथोंके अनुसार नहीं है और यही कारण है कि, दोहोंका एक दूसरेसे अधिक सम्बन्ध नहीं मिलता।

जितने प्राचीन टीके हैं उन टीकोंमें साहित्यविषयक कोई त्रुटि नहीं है बहुत उपयोगी है परन्तु भावार्थ अक्षरार्थ जाननेके लिये पाठकोंको यह अति उपयोगी होगा ऐसी मुझे दृढ आशा है।

इस प्रकार प्रबन्धोंसे इस ग्रंथको अलंकृत कर अपने परम माननीय जगद्विख्यात वैश्यवंशदिवाकर " वेंकटेश्वर " यन्त्रालयाध्यक्ष सेठजी श्रीयुतखेमराज श्रीकृष्णदासजी महाशयके करकमलमें सब प्रकारके स्वत्वसहित समर्पित करदिया है जिन्होंने सब प्रकार कृतकार्य कर हमको सदैव उत्साहित किया है।

यथासाध्य दोहोंको शुद्ध कर सन्निवेशित किया है इसपरभी यदि कहीं अशुद्धि रहगई हो तो पाठकगण क्षमा करेंगे कारण कि,

दोहा-जड चेतन गुणदोपमय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

सतां कृपाभिलाषी-

पण्डित ज्वालाप्रसादमिश्र, दिनदारपुरा ( मुरादाबाद. )

श्रीः ।

# कविवर विहारीलालजीका-
# जीवन चरित्र ।

भारतवर्षमें यद्यपि भाषाके अनेक कवि हुए हैं परन्तु विहारी-लालकी सतसईभी कविताका एक अनुपम भंडार है कौन ऐसा रसिक है कि, जिसका चित्त इनके दोहोंको श्रवण कर एक बारही रसमयपूर्ण न होजाय स्वयं कविने कहा है ।

दोहा-सतसैयाके दोहरे, ज्यों नावकके तीर ॥
देखतके छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर ॥ १ ॥
ब्रजभाषा बरणी कविन, बहुविधि बुद्धिविलास ।
सबकी भूषण सतसई, करी विहारीदास ॥ २ ॥

और इसमें कुछभी सन्देश नहीं कि, सतसईमें यही गुण है इस समयकी प्रथाके अनुसार विहारीलाल कवीश्वरका समय जाति कुल गोत्रका परिचय पाये विना पाठक सन्तुष्ट नहीं होंगे इस कारण इसमेंभी कुछ परिश्रम कर यथाशक्ति पाठकोंके सन्मुख इनका परिचय उपस्थित करते हैं इनके समयका निर्णय करनेमें तो कुछ आपत्ति नहीं पडती कारण कि ' स्वयंही कविवरने कहा है ।

संवत ग्रह शशि जलधि क्षिति, छठ तिथि वासर चंद ।
चैतमास पख कृष्णमें, पूरण आनँदकंद ॥ ३ ॥

संवत् १७१९ चैत्रकृष्ण छठ चन्द्रवारके दिन सतसईको पूर्ण किया, इस वचनसे तो इनका समय जाननेमें अब किसी प्रकार सन्देह नहीं रहा, परंतु इस बातमें विवाद पडता है कि, उक्त कविका कुल गोत्र क्या था नीचे लिखे दोहेके आश्रित हो काइ

उनको राय कोई सनाढ्यमिश्र कोई रामचंद्रिकाप्रणेता केशवदा-सका पुत्र कोई कान्यकुब्ज, कोई माथुर ब्राह्मण कहकर इनका परिचय देते हैं वह दोहा यह है।

जन्म लियो द्विजराजकुल, प्रगट बसे ब्रज आय।
मेरे हरो कलेश सब, केशव केशवराय ॥ ४ ॥

ब्राह्मण श्रेष्ठ कुलमें जन्म लिया ब्रजमें आकर प्रगट बसे के-शव ( कृष्ण ) केशवराय पिता ( पिता ) मेरे सम्पूर्ण क्लेश हरो ॥ ४ ॥

इस दोहेमें केशवराय पर अवलम्बन करके जो कविवरको राय कथन करते हैं, यह युक्ति संगत नहीं, क्योंकि इसके साथही वह द्विजराज कुलका जन्म कहते हैं कि, केशवरायने ब्राह्मणकुलके उच्चवंशमें जन्म लिया,और ब्रजमें आकर बसे केशवराय नाम था कुछ उसके अन्तमें कुलोपाधिका कथन नहीं है,इस कारण यह सिद्ध होता है कि, केशवरायजी अन्य स्थानसे ब्रजसेवनके लिये आवसे थे और ब्रजमेंही कविवर विहारीलालका जन्म हुआ जिस कारण उनके सब आचार विचार ब्रजभाषा सब ब्रजवासियोंकी ही समान थी. अब इस बातका विचार करना है कि, कविप्रिया रसिकप्रिया रामचन्द्रिकादि प्रसिद्ध ग्रन्थोंके निर्माता कविवर केश-वदासजीही इनके पिता थे और इसी कारण इनको सनाढ्य ब्राह्मणमिश्र कहाजाय तो यह भी युक्तिसंगत बोध नहीं होता, कारण कि, टिहरीनिवासी कविवर केशवदासजीका शरीर लगभग १६७० संवतमें पात होगया था गोस्वामी तुलसीदासजीसे पहलेही यह मृतक होगये, अर्थात् ओडछाधीश राजा इन्द्रजित्के अभि-चारसे समाजसहित प्रेतयोनिको प्राप्त होगये।

इनके निर्मित ग्रन्थोंकी अधिकाईसे विदित होता है कि, इनकी अवस्था साठ सत्तर वर्षकी होगी यदि कविवर विहारीलाल तीस-

वर्षकी अवस्थामें उत्पन्न हुए हों तो भी सतसई निर्माणसमय उनकी अवस्था सत्तर वर्षके लगभग होनी चाहिये परंतु सतसई देखनेसे साफ विदित होता है कि, सतसईका निर्माण पूर्ण युवावस्थामें हुआ है, सतसईके रसीले भाव देखनेसे उस समयतक सतसईकारकी अवस्था तीस वर्षकी कदाचित् न हुई हो, और केशवदासजीकाभी व्रजवास प्रसिद्ध नहीं है इस कारण इन केशवदासजीके पुत्र कविवर विहारीलालजी नहीं हैं, और सनाढ्यब्राह्मणभी नहीं हैं. क्योंकि इनके और केशवदासजीके समयमें वडा अन्तर है।

अव दूसरा विचार है कि, कितनेही विचारशीलोंके मतसे विहारीलालको माथुरवंशदिवाकर एवं भाषाकाव्यसंग्रहमें इनको कान्यकुब्जवंशोत्पन्न वर्णन किया है।

यदि इनको कान्यकुब्ज मानें तो सतसईमें केवल इतनी उपपात्ति प्राप्त होती है कि, " प्रगट भये द्विजराजकुल " अर्थात् श्रेष्ठ ब्राह्मणकुलमें जन्म लिया और व्रजमें आकार वसे इसमें यह विदित होता है कि, कविवरके पिता अन्यस्थानसे यहां आकर वसे थे, और कुछ सन्देह नहीं कि, वे केशवरायजी कान्यकुब्ज हों अवभी देखा जाता है कि, कान्यकुब्जोंको कुलाभिमान अत्यन्त होता है और कविवरने भी अपने निमित्त द्विजराजकुल कहा है इसके अधिक कान्यकुब्जोंमें धीरता वीरता भी होती है और विहारीलाल जयसाहके साथ संग्रामोंमें भी रहे हैं यथा।

**यों दल काढे बलखतें, तैं जयसिंह भुआल।**
**वदन अघासुरके परे, ज्यों हरि गाय गुवाल ॥ १ ॥**

वस इससे अधिक और प्रमाण हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ दूसरा पक्ष विहारीलालके माथुरा एवं एक और ग्वालियरके निकट वसुआ गोविन्दपुर गाँव इनकी जन्मभूमि गाई जाती है, और

मथुरामें ससुराल कही जाती है परन्तु माथुर वंशसे इस पक्षमें विरोध नही है, लोकमें कृष्णकविको बिहारीलालका पुत्र और शिष्यभी कहते है यदि सत्यही यह बिहारीलालके पुत्र है तो नीचे लिखे दोहके अनुसार वह माथुरब्राह्मण हैं।

माथुर विप्र ककोरकुल, बसत मधुपुरी गाँव ॥

जो हो उनके आचार व्यवहारसे तथा गोविन्दपुरमें केशवरायका वर्णन मिलनेसे अधिकतर यही विदित होता है कि, कदाचित बिहारीलालजी माथुरवंशावतंसही हो कारण कि, और स्थानोंकी अपेक्षा माथुरवंशमें इनकी चरचा अधिक है. जो कुछभी हो कविवर बिहारीलालके उच्चकुल ब्राह्मण होनेमें तथा अनेकभाषाके ज्ञाता और संस्कृतके पंडित होनेमें तो किसीको किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।

अभी यह बातभी जाननेयोग्य है कि, सतसई किस प्रकार निर्मित हुई स्वयं यदा तदा बिहारीलालजी लिखते रहे वा इसमें किसीकी प्रेरणा थी इसके लिये इतनाही बहुत होगा कि-

हुकम पाय जयसाहको, हरिराधिका प्रसाद ।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद ॥

इस वचनसे जयशाहकी आज्ञासे सतसईका निर्माण होना जाना जाता है और राजाज्ञाकेही कारण बहुत समझ सोचकर शनै. २ यह ग्रन्थ निर्मित हुआ है, और जयसाहके परलोक पहुंचने परभी पीछे कुछ दोहे लिखे गये हैं, जिनमें कुछ नीति वैराग्य आदिकीभी छटा लक्षित होती है।

जयसिंह कौन थे इनके यहां बिहारीलाल कैसे पहुंचे इस बातकाभी प्रगट होना अवश्य है यद्यपि इसमेंभी कुछ मतभेद पडता है क्योंकि कई जयसिंह हुए हैं परन्तु इतिहाससे जैसा कुछ मिलता है सो वर्णन करते है।

सम्वत् १६७२ में राजा मानसिंहका देवलोक हुआ तदुपरान्त महाराज कुँवर भाऊसिंह गद्दीपर बैठे यह कुछ प्रतापशाली न हुए, इस कारण इनके कुछही दिन उपरान्त महासिंह राजा हुए, सम्वत् १६७९ में महासिंहने गद्दी पाई यहभी पूर्वजके समान अत्यन्त पानासक्त होकर अकालमें कालकवलित हुए, राजा मानसिंहके इन दो उत्तराधिकारियोंकी अयोग्यतासे अम्बरका गौरव मलीन होगया था, इसी अवसरमें जोधपुरके राजा सम्राट् सभामें प्रधानताके पदको पागये थे. जहांगीरने अपनी बेगम महारानी जोधबाईकी सम्मतिसे जगत्सिंहके पुत्र ( मानसिंहके भतीजे ) को अम्बरका सिंहासन देदिया, इस कारण सम्राट्की प्यारी बीबी नूरजहंको अत्यन्त डाह हुआ भट्टग्रन्थमें लिखाहै कि, रनवासके एक बरामदेमें बैठकर बादशाहने अपनी स्त्री जोधबाईसे जयसिंहको राज देनेके लिये सम्मति की थी, जयसिंहभी एक कोनेमें लगे हुए बादशाहके हुक्मकी बाट देखरहे थे, दोनोंका तर्क वितर्क जब पूर्ण हुआ तब जहाँगीरने हर्षसे कहा जयसिंह ! जोधबाईकी महरबानी ( कृपा ) से तुम अम्बरके राजा हुए, इसवक्त अपनी परवरिश करनेवालीको सलाम करके अपने राज्यको जाओ । जयसिंह आनंदित हुए पर उन्होंने जोधबाईको सलाम करना स्वीकार न करके कहा सम्राट ! आपके महान् राजवंशकी जिस स्त्रीको आप सलाम करनेके लिये कहैं मैं उसहीको सलाम करसकता हूं परन्तु जोधबाईको नहीं करसकता कारण कि, यह राजपूतोंके आचार विचारका विरोध करती है ।

सम्राट्से विदा होकर जयसिंह राजधानीमें आये और कुछही दिनोंके उपरान्त अपनी नवोढा रानीके प्रेममें फँसकर राजकाजमें ढील डालदी, उस समय वहांके कार्यवाले सभासदोंने विहारीला-

लसे साक्षात् कर इनको जयसिंहके पास भेजा इस समय विहारी-
लालने महाराजको यह दोहा सुनाया * ।

नहिं पराग नहिं मधुरमधु, नहिं विकास यहि काल ।
अली कलीहीसों विध्यो, आगे कौन हवाल ॥

इसको सुनकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए और दरबार किया
तथा विहारीलालको बहुत कुछ भेट देकर अपने स्थानपर रख-
लिया । इसही दोहेपर १०० अशरफी उक्त कविको मिली परन्तु
महाराजने कहा कि, इस प्रकारके दोहेपर एक एक गाँवभी थोडा
है, आगे औरभी दोहे बनानेकी आज्ञा दी कविवर जयपुर अम्ब-
रमें रहने लगे इनके काव्यमें जयपुरके दृश्यके अनेक दोहे पाये
जाते है ॥

यथा—( फीको परै न वर फटै रँगो लोहरँग चीर, मनहु ताफता
कीन ) इत्यादि अनेक वार्ता मूलग्रन्थमें देखनेसे मिलैंगी ।

राजपूतानेमें जयसिंह मिरजानामसे प्रसिद्ध है, यह मानसिंहके
योग्य वंशधर हुए औरंगजेबके राजत्वकालमें इन्होंने मुगलोंके
बहुत उपकार किये थे इसी कारण औरंगजेबने इनको ६०००
सेनाका सेनापति बनाया, इसी कुशावह वीरके कौशल जालसे
महाराज कुलतिलक शिवाजी बन्दी होगये थे इस समय विहारी-
लालने पढा था ।

सामा सैन सयान सुख, सबै शाहके साथ ।
बाहुबली जयशाहजू, फते तिहारे हाथ ॥

महाराज जयसिंहने शिवाजीको निरापद् रखनेकी प्रतिज्ञाकी
थी परन्तु जब औरंगजेबके कपटसे वह टूटनेपर हुई तब
महाराज जयसिंहने शिवाजीके भगानेमें सहायता की यह

* कोई कहते हैं कि यह दोहा फूलोंमें रखकर कागजका तवीजसा कर
राजाकी सेजपर बिछादिया जब सवेरेको फूल कुंभलाये और कागज देखकर
दोहा पढकर इनको बुलवाया और अपने यहां रखलिया ।

महानुभावता साधारण बात नहीं है परन्तु इनके उज्ज्वल माहात्म्यके गौरवमें विश्वासघातका कुछ कुछ कलंक झिलमिलाने लगा था, महाराज जयसिंहकेही यत्नसे कपटखान औरंगजेबके समस्त कूटचक्र विफल हुए थे महाराज जयसिंहके यहां बाईस सहस्र राजपूत घुडसवार और २२ ही प्रधान सेनापति थे अन्य ग्रन्थोमें लिखाहै कि, महाराज अपने कई सरदारोंको साथ लेकर दरबारमें बैठा करते थे, दरबारमें बैठनेके समय हाथमें दो दर्पण लेलेते थे एक दर्पणको दिल्ली और दूसरेको सितारा बताकर भूमिमें डालदेते, दिल्लीवाले दर्पणको हाथमें रखकर कहाकरते थे कि, सितारा तो पातालको चला और दिल्लीके भाग्यका डोराभी मेरे बाये हाथमें है । मैं इच्छा करूं तो इसकोभी इसी प्रकार स्वच्छन्दतासे वशीभूत करसकता हूं, धीरे २ यह बात औरंगजेबके कानतक पहुँचगई, सम्राट् इनके प्राणोंका ग्राहक हुआ, परन्तु जयसिंह कोई साधारण राजा नहीं थे, जो औरंगजेब इनको इच्छा करतेही मारडालता औरंगजेबने एक घृणित उपायको अवलम्बन किया, महाराज जयसिंहके कीरतसिंह नामक एक छोटा पुत्र था, इसको राज्यका लोभ दिलाकर महाराजके विरुद्ध उकसाया, जब देखा कि, यह सब प्रकारसे मेरी सहायता करनेको तैयार है, तब कीरतसिंहसे कहा तुम जयसिंहको मारडालो मैं तुमको अम्बरकी गद्दी देदूंगा, कैसी भयानक बात है कि, राजकुलमें जन्म लेकर राज्यके लिये ऐसे गुणवान् पिताको मारडालनेका विचार ! दुःखकी बात है कि, पाखण्डी कीरतसिंहने इस भयानक दुष्कर्मको करना स्वीकार किया और अफीमके साथ विष मिलाकर महाराजको भक्षण कराया, परन्तु इस पितुघाती पाखण्डीको बादशाहने भी धोखादिया, केवल एक कामता नामक जनपद इस कुलांगारके हाथ आया ।

जिस दिन राक्षसपुत्रकी विश्वासघातकता और नृशंसतासे राजपूतगौरव महाराज जयसिंह इस लोकको छोडगये, उसही दिन

अम्बरके भाग्याकाशमें एक गंभीर काला मेघ छागया, उसके साथही कुशावहकुलकी गौरवगरिमा प्रभाहीन होगई फिर वह गंभीर मेघ लोप नही हुआ जिन कुशावह राजाओंके प्रचण्डप्रतापसे एक समय दिल्लीका सिंहासन कम्पायमान होगया था उनके वंशधरोंने फिर उस प्रदीप्त गौरवको प्राप्त नहीं किया मानों आज-तक उस वधका प्रायश्चित्त पूर्ण नही हुआ है।

सम्वत् १७१६ में जब इस प्रकार जयशाहका शरीर पात हुआ और उनके दायाद * रामसिंह और कृष्णसिंहने राज्यके निमित्त झगडा किया, इस समय प्रजाको वडी कठिनाई पडी थी कदाचित् इसी समय कविवरने यह दोहा कहा है।

दोहा—दुसह दुराज प्रजानको, क्यों बाढे दुखद्वंद ।
अधिक अँधेरो जग करै, मिलि मावस रवि चंद ॥

फिर राज्यकी पलटसे गुणग्राहक न रहनेके कारण कविवरने वहां रहना उचित न जाना कदाचित् ऐसेही प्रसंगपर नीचे लिखा काव्य किया हो।

दोहा—चले जाहु ह्यां को करत, हाथिनको व्यवहार ।
नहिं जानत ह्यां बसत हैं, धोबी और कुम्हार ॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सुबीत बहार ।
अब अलि रही गुलाबकी, निपट कटीली डार ।

* सन्नमें इनके पुत्र रामसिंह सिंहासनपर बैठे उन्हीके निमित्त कुलपति मिश्रने रसरहस्य बनाया उन्होंने लिखा है कि, कूरमकुलमण्डन रामसम रामसिंह रस सदनगुन। सुख बहुलसना मण्डल रचिय विजय महछ जय सिंह इन। दोहा—सम्वत् सतरसौ बरस, बीते सत्ताईस।
कातिकबदि एकादशी, वार अगिन वानीस ॥

कहते हैं कि, यही विचार कविवर वहांसे कृष्णकविको साथ ले मारवाडकी ओर चलेगये, उस समय दरबारमें इनके दोहोंका अर्थ होता था, विद्वानोंने कई २ प्रकारसे अर्थ किये थे विहारीलालने देखा कि, अपना परिचय अब देना ठीक नहीं कारण कि, इससे अधिक और अर्थ अब हम क्या करेंगे, मारवाडके विषयमें उन्होंने कहा है।

**दोहा–विषम वृषादिककी तृषा, जिये मतीरनि शोधि।**
**अमित अपार अगाधजल, मारो मूड पयोधि॥**
**प्यासे दुपहर जेठके, थके सबै जल शोधि।**
**मरु धर पाय मतीरही, मारू कहति पयोधि॥**

विहारीलाल तत्कालभी प्रसंगानुसार दोहा निर्माण करते थे कोई चित्रकार एक वृक्षके नीचे अहि मयूर मृग बाघ बनाकर लाया महाराज जयसिंहने विहारीलालसे यह प्रसंग पूछा तब कविवरने कहा।

**दोहा–कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृगबाघ।**
**जगत तपोवनसो कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥**

जब जयसाह इस संसारको त्यागगये तब इन कविवरका चित्त शृंगारसकी ओरसे खिंचगया और नीति उपदेश आदिके दोहे निर्माणकर संवत् १७१९ में उन्होंने सतसई पूर्ण करदी।

अन्य कवीश्वरोंकी भांति विहारीलालने अपने महाराजकी लम्बी चौडी प्रसंशा न करके राधाकृष्णके गुणानुवादमें विशेष कविता निर्माण की है, इसमें कुछभी सन्देह नहीं कि, अन्तके जीवनके दिन उन्होने भगवद्भजनमेही व्यतीत किये इसके प्रमाणक निम्नलिखित दोहे हैं॥

दोहा-अपने २ मत लगे, बादि मचावत शोर ।
ज्यों त्यों सबको सेइबो, एकै नंदकिशोर ॥
मोहिं तुम्हैं बाढी बहस, को जीते यदुराज ।
अपने २ विरदकी, दुहूँ निबाहन लाज ॥

आगे कितने समयतक कविवर इस संसारमें रहे सो विदित नही होता सतसई क्रमानुसार नही लिखीगई यह फुटकर दोहे भिन्न समयमें भिन्न २ विषयक कथन हुए है पीछे जब ग्रन्थ दुर्लभसा होने लगा तब रसिकजनोंने अपनी इच्छानुसार इसको शृंखलाबद्ध किया और किसी किसीने टीकेभी निर्माण किये यद्यपि इसपर बीस पचीस टीका हुई हैं परन्तु प्राचीन टीकाओंमें सूरतमिश्रकी टीका सराहीजाती है ।

यद्यपि कविवरका पूर्ण वृत्तान्त अलभ्य है परन्तु इसके न मिलनेसे कोई विशेष क्षति नहीं है उनका एक दोहाभी जबतक भूमण्डलमें रहेगा तबतक उनका गौरव और कीर्ति संसारमें विद्यमान रहेगी इस कारण अधिक विस्तार न करके इतनेहीमें कविकी जीवनी पूर्ण करते हैं ।

पण्डित-ज्वालाप्रसादमिश्र.

# साहित्यपरिचय ।

सतसईमें साहित्यविषयक जो वर्णन आया है उसको संक्षेपसे वर्णन करतेहैं साहित्यदर्पणमें ' वाक्यरसात्मकंकाव्यम् ' और काव्यप्रकाशमें ' तददोषौ शब्दार्थौ सगुणवदलंकृतिः पुनः क्वापीति ' और रसरहस्यके कवि कहतेहैं ।

> जगते अद्भुत सुखसदन, शब्द रु अर्थ कवित्त ॥
> यह लक्षण मैंने कियो, समुझि ग्रन्थ बहु चित्त ॥

इसमें जगत्से अद्भुत सुख लोकोत्तर चमत्कारकाही नाम काव्य कथन हुआहै, इससेभी यह विदित होताहै कि, इसके विना सुखकी प्राप्ति नहीं इस कारण जिस कवितामें रस सुख लोकोत्तर चमत्कार है वही काव्य कहाताहै, काव्यके अनेक भेद हैं तथा उसकी शक्ति अभिधालक्षणा व्यंजनादिका विस्तार साहित्यग्रन्थोंमें विस्तारके साथ लिखाहै, यहां केवल प्रयोजनीय विषयको वर्णन करते हैं जिसके होनेसे काव्य कहलाताहै वह रस क्या है ।

> मिलि विभाव अनुभाव अरु, संचारी सुअनूप ॥
> व्यंग्य कियो थिरभाव जो, सोई रस सुख भूप ॥

अपनी सामग्रीप्रधान मनोविकार उसके कारण उसके कार्य्य और सहकारी मनोविकार यह क्रमसे स्थायीभाव विभाव अनुभाव संचारीभाव कहाते हैं इनके योगसे पुष्टहुए स्थायीभावको रस कहते हैं ।

नाटक देखने काव्य पढनेसे जो एक विलक्षण सुख आनंद प्राप्त होता है उसीका नाम रस है, चमत्कार कहनेका आशय यह कि, वारवार अनुभव करनेसे सुखहीकी प्राप्तिहो इस प्रकारका विलक्षण आनंद कविकी रचनाचातुरीसे प्रगट होता है

सहृदय पुरुषही इसके अनुभव करनेमें समर्थ है अन्य नहीं ऊपर कही सब सामग्री जिस श्लोकमें व जिस कवित्तमें होती है वही सरस कहाता है ।

कविजनोंके हृदयमें जो मनोविकार उठते हैं तथा जो प्रकृतिका अनुभव उनको यथार्थरूपसे होगया है उसका यथायोग्य वर्णन करके दूसरोंके हृदयमें उसकी पूर्णता दिखासकते हैं ।

इसीप्रकार हर्ष शोक भय त्रास आदि मनोविकारभी कारण कार्य और सहकारी प्रसंगके अनुसार जानने योग्य हैं अर्थात् कविजन अपने काव्यमें जिन २ मनके विकारोंका वर्णन करते हैं, उन सबके कारण कार्य और उनके सहकारी अपर मनोविकार इन सबका काव्यमें यदि सविस्तर और यथायोग्य उद्भावन करें तो ऐसे काव्यके पढने वा नाटकके देखनेसे दूसरोंकेभी अन्तःकरणमें वेही मनोविकार जागृत होते हैं और यह स्पष्ट जान पडता है कि, हम उनका पूर्ण अनुभव कररहे है इसप्रकारका भास होनेसे उस समय जो विलक्षण आनंद होताहै उसीको रस कहते हैं, संचारी स्थायी आदि भाव क्या वस्तु हैं सो कहते हैं ।

जितने जिनको जगतमें, प्रगटत है थिरभाव ॥
तेई नित्य कवित्तमें, पावहिं नाम विभाव ॥
थिर भावनिको औरको, प्रगटै ते अनुभाव ॥
संचारी जेहि साथ ह्वै, बहुत बढावै दाव ॥ २ ॥

आलम्बन उद्दीपन ।

जे निवास थिरभावके, ते आलम्बन जानि ॥
सुधि आवे जिनके लखे, तें उद्दीप बखानि ॥

आलंबन रतिके कहत, नवल नारि अस कंत ॥
उद्दीपन बहुभांति है, वन घन शरद वसंत ॥ २ ॥

अनुभाववर्णन।

वचन चितैबो बक्र बिधि, और जे सात्त्विकभाव ॥
आलिंगन चुंबन जिते, ते सब हैं अनुभाव ॥

आठ प्रकारके सात्त्विक।

बाँधि रहिबो सुरभंग पुनि, कम्प स्वेद अँसुवानि ॥
रोम विवर्ण रु अन्ततनु, सात्त्विक भाव न जानि ॥

संचारीभाव तेतीस हैं निर्वेद, ग्लानि, शंका, असुया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, लाज, वेग, चपलता, जडता, हर्ष, गर्व, विषाद, नींद, अमर्ष, औत्सुक्य, अपस्मार, सोना, बोध, उग्रता, मरण, बुद्धि, व्याधि, अवहित्थ, त्रास, उन्मादता, तर्क, चिलास यह तेतीस संचारि नौरसके साथ रहते हैं।

स्थायीभाव।

सब भावनि सरदार है, टारिसके नाहिं कोय ॥
सो थिरभाव बखानिये, रस स्वरूप जो होय ॥

इनके नौ भेद।

रस सुहास अरु शोक पुनि, कहत क्रोध उत्साह ॥
भय अरु ग्लानी आचरज, थिर भावनु कविनाह ॥

शांतरसका निर्वेद भी स्थायी होता है॥

## रसोंके भेद ।

पहलो रस शृंगार पुनि, हास्य रु करुण बखानि ॥
रौद्रो वीर भयानको, अरु बीभत्सहि जानि ॥
अद्भुतसों मिलि आठ यह, रस नाटकमें होत ॥
शांतिसहित नौ कवितमें, कविकुल कहत उदोत ॥

शृंगारमें कामका उद्भेद होता है, उत्तम प्रकृति है नवीन अनुरागिणी नायिका आलम्बन है दक्षिणादि नायक आलंबन है चन्द्र चन्दन कोकिलादिके शब्द इसके उद्दीपन है भ्रूविक्षेप कटाक्षादि अनुभाव आलस्य जुगुप्सा व्यभिचारी है रतिस्यायिभाव श्यामवर्ण विष्णु देवता है ॥ १ ॥

विकृताकार वाणी चेष्टा आदिसे हास्यरस उत्पन्न होता है हास्यस्थायिभाव श्वेतवर्ण प्रमथ देवता, जिस वाणी वा चेष्टाको देखकर मनुष्य हँसे वह, आलम्बन और उसकी चेष्टा उद्दीपन है अक्षिसंकोच स्मेरतादिक अनुभाव, निद्रा आलस्य अवहित्थादि व्यभिचारी हैं ।

इष्टका नाश अनिष्टकी प्राप्ति करुणारस है यह कपोतवर्ण यम देवतावाला है इसमें शोकस्थायी भाव, शोच्य आलम्बन दाहादिकावस्था उद्दीपन है, दैवनिंदा, भूपात, क्रन्दन यह अनुभाव हैं तथा विवर्ण, उच्छ्वास निश्वास, स्तम्भ, प्रलपन, निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जडता, उन्माद, चिंता आदिक व्यभिचारी है ।

रौद्रमें क्रोध स्थायीभाव, रक्तवर्ण रुद्र देवता शत्रु आलम्बन, उसकी चेष्टा उद्दीपन है, मुष्टिप्रहारपतन विकृति, अवदारण, संग्राम संभ्रमसे इसकी उद्दीपता होती है, भ्रूभंग, होठ, काटना, खंभ,

ठोंकना, तर्जन, अपनी बड़ाई, आयुध विक्षेप अनुभाव हैं आक्षेप क्रूर, संदर्शन, उग्रता, वेग, रोमांच, स्वेद, वेपथु, मद, मोह, आमर्ष, व्यभिचारीभाव है।

उत्तम प्रकृतिवाला वीररस है उत्साह स्थायिभाव है महेन्द्र देवता हेमवर्ण विजेतादिक आलम्बन विभाव हैं, सहाय अन्वेषणादि अनुभाव है धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्च संचारीभाव हैं।

भयानक रसमें भय स्थायीभाव काल देवता, स्त्री नीच प्रकृति कृष्णवर्ण है, जिससे भय उपजे वह इसमें आलम्बन है, घोरतर उसकी चेष्टा उद्दीपन है, विवर्ण, गद्गद्स्वरभाषण, प्रलय, स्वेद, रोमाञ्च, कम्प, दिशाओंका देखना, अनुभाव, जुगुप्सा, वेग, सम्मोह, त्रास, ग्लानि, दीनता, शंख, अपस्मार, संभ्रान्ति, मृत्यु-आदि इसमें व्यभिचारी हैं।

वीभत्सरसमें जुगुप्सा ( निन्दा ) स्थायिभावसे रहती है नीलवर्ण महाकाल इसका देवता है दुर्गंध मांसभेद इसका आलम्बन है, कृमि पातादि उद्दीपन है, निष्ठीवन नेत्रसंकोचनादि अनुभाव, मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि, मरणादिक संचारीभाव हैं।

अद्भुतरसमें विस्मय स्थायीभाव गंधर्व देवता, पीतवर्ण, अलौकिक वस्तु आलम्बन, उसके गुणोंकी महिमा उद्दीपन है, स्तंभ, स्वेद, रोमांच, गद्गद, स्वर, सम्भ्रम, नेत्रविकासादि अनुभाव, और वितर्क, आवेग, संभ्रान्ति, हर्षादिक इसके व्यभिचारी हैं।

शान्तरसमें शम स्थायिभाव, उत्तम प्रकृति, कुन्द और चन्द्रमाके समानवर्ण श्रीनारायण देवता, अनित्यता वस्तुकी निस्सारता वा परमात्माका स्वरूप इसका आलम्बन है, पुण्याश्रमक्षेत्र तीर्थ

महापुरुषोंका संग उद्दीपन है, और रोमांचादि अनुभाव तथा निर्वेद हर्ष स्मरण अतिभूत दयादिक संचारी हैं ।

कोई दशवाँ वत्सल रस कहते हैं, वत्सलता स्नेह स्थायिभाव पुत्रादि आलम्बन, उसकी चेष्टा विद्या शौर्य्यादि उद्दीपन, आलिंगन, स्पर्श, चुम्बन, पुलकादि आनंद अनुभाव, अनिष्टकी आशंका, हर्ष, गर्व, संचारीभाव हैं, कमलके गर्भके समान वर्ण लोकमाता ये देवता है ।

इसके आगे काव्यकी ध्वनि व्यंजना लक्षणका विस्तार होताहै परन्तु हम सतसईमात्रका विषय संक्षेपसे दिखाते हैं इनके आलम्बन नायक आदि हैं उनको कहते है त्यागी, कृती, कुलीन, लक्ष्मीसम्पन्न रूप यौवनसे युक्त उत्साहवान्, चतुर, अनुरक्त, शीलवान्, नेता यह नायकके लक्षण हैं, धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त नायकके यह चार भेद हैं अपनी बडाई न करनेवाले क्षमावान् गंभीर महाबली दृढप्रतिज्ञ धीरोदात्त हैं यथा राम युधिष्ठिरादि ।

मायावी चपल अहंकारदर्पसे युक्त अपनी बडाई करनेवाला धीरोद्धत है, यथा भीमसेनादि निश्चिन्त मृदुकलामें तत्पर धीर ललित है. जैसे रत्नावलीमें वत्सराजादि, सामान्य गुणोंसे युक्त देव द्विजपूजक धीरप्रशान्त होता है इन प्रत्येकके साथ दक्षिण धृष्ट अनुकूल शठ लगानेसे नायकके सोलह भेद होते हैं, अनेक स्त्रियोंमें समान अनुराग रखनेवाला दक्षिणनायक है, और अपराध करनेपरभी निश्शंक तर्जनेसेभी लज्जित न होनेवाला दोष देखनेपरभी मिथ्यावादी धृष्टनायक है, एकही स्त्रीमें निरत रहनेवाला अनुकूल है और बाहरसे प्रेम दिखाकर भीतरसे शून्य और विपरीतआचरण करै वह शठनायक है यह सब उत्तम मध्यम अध-

म लगानेसे ४८ प्रकारके होते हैं नायिकाओंके भी तीन भेद हैं अपनी स्त्री दूसरेकी स्त्री साधारण स्त्री विनय आर्जवादि गुणसे युक्त गृहकर्ममें तत्पर पतिव्रता स्वीया है यह मुग्धा मध्या प्रगल्भा तीन प्रकारकी हैं नवयौवनवाली,(रतिमें वाम, मानमें मृदु, अधिक लज्जावती मुग्धा कहाती है,) विचित्र सुरतवाली कामसे पूर्ण प्रगल्भ वचनवाली, कुछ लज्जावती मध्यमा है।) कामसे अन्धी अतितरुण समस्त रतिकी ज्ञाता भावमें उन्नत नायककी आक्रमण करनेवाली प्रगल्भा कहाती है।

यही प्रत्येक धीरा अधीरा, धीराधीरा इन भेदोंसे छः प्रकारकी होती हैं इनमें कुछ हँसकर वक्र उक्तिसे कहनेवाली तथा क्रोधसे जलानेवाली, मध्याधीरा जानना, धीराधीरा रुदन करती है, और अधीरा कठोर वचन कहती है यह सबमें लगालेना, प्रगल्भा यदि धीरा होती है तो क्रोध छिपाकर बहुत आदर दिखाती है, सुरतमें उदासीन होती है, परकिया दो प्रकारकी हैं प्रौढा और कन्या, यात्रादिमें निरत लाजहीन कुलटा प्रौढा कहाती है, नवयौवना शीलवान् लज्जायुक्त कन्या होती है, सामान्यस्त्रीमें धीरा कलाओंमे प्रगल्भा वेश्या होती हैं यह किसीमें अनुराग नहीं करती, इनकी दृष्टिमें गुणी निर्गुणी कोई नहीं, केवल धनमात्रके लोभसे बनावटी गाढा प्रेम दिखाती हैं, अंगीकार करके भी क्षीणधन पुरुष यह घरसे निकाल देती है तस्कर पण्डक मूर्ख जिनको सेतमेत सुखसे धन मिलगया है वही इनके प्रिय होते हैं " कैसा बीभत्स व्यापार है माता पिता कष्ट पाओ कुछ चिन्ता नहीं स्त्री महाशोकसागरमें मग्न हो कुछ चिन्ता नहीं, पिता गरमी जाडा वर्षातमें वस्त्र अन्नका कष्ट भोगें

कुछ चिन्ता नहीं, वृद्धावस्थामें हम क्या करेंगे कुछ चिन्ता नहीं लोक हमारा हास्य करते हैं कुछ चिन्ता नहीं जायदात गिरवी हुई कुछ चिन्ता नहीं जातिसे पतित होंगे धर्म जायगा कुछ चिन्ता नहीं, वेश्याके यहां सर्वस्व चलाजाता है कुछ चिन्ता नहीं, परन्तु यदि अपने कुटुम्बके निमित्त दो पैसाका खर्च आजाय तो पैरके तले भूमि निकल जाती है बहुत क्या वारांगनाकी आज्ञामें 'जी' हां यही होगा और कुटुम्बी हितकारी जनोंके उत्तरके 'नहीं यही दो अक्षर होते हैं परंतु "सबै दिन नाहि बरोबर जात" अंतमें क्षीण धन होनेसे निकाले जाते और पछताते हैं यह रक्त हों वा विरक्त हों इनमें प्रीति दुर्लभ है ।

कोई इनमें कामके वशीभूत होनेसे अनुरागिणी भी होती हैं।

अन्य स्त्रियोंके स्वाधीनभर्तृका, खण्डिता, अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता यह भेद हैं।

जो अपने स्वामीके सदा प्रेममें आधीन रहै यह स्वाधीनभर्तृका, अन्य स्त्रीसे रति करके उसके चिह्नोंसे युक्त पति जिसके पास आवै वह खण्डिता, जो वेष छिपाकर संकेतमें नायकके पास जाय वह अभिसारिका, क्षेत्र बावड़ीके निकट भग्नदेवालय दूतीके घर वन स्मशान नदी आदिका तट यह अंधकारके समय इनके अभिसारके स्थान हैं। जो क्रोधसे बुरे वचन कहकर प्राणनाथको बाहर करदे पीछे पछतावै वह कलहान्तरिता है, जिसका प्रीतम संकेत करके मिलनेको न आवै वह विप्रलब्धा है । जिसका पति कार्यवश परदेश गया हो उसकी कामार्त्त स्त्री प्रोषितभर्तृका कहाती है, जो स्वामीका

सगम जानकर शृंगार कर सेज प्रस्तुत करती है वह वासक-सज्जा, आनेका निश्चय करके प्रारब्धसे जिसका पति न आवै वह विरहोत्कंठिता कहाती है इनमें उत्तम, मध्यम, अधम, लगाकर ३८४ सेभी अधिक नायकाभेद होते हैं सो विस्तार भयसे नहीं लिखे, इनके शरीरमें युवावस्थाके कारण अट्ठाईस विकार होते हैं और भावसे लेकर धैर्यतक दशपुरुषोंमें होते हैं यथाहि–

भाव–निर्विकारात्मक चित्तमें पहला विकार (° विभाव ) भ्रूनेत्रादिके विकारसे सम्भोगकी इच्छा प्रगट करनी, थोडा संलक्ष्यका विकार हाव है । खेलादिके अत्यन्त प्रगट विकारका नाम हेला है । रूप यौवनके लालित्यका नाम शोभा है । कामकी अधिकाईके प्रकाशका नाम कान्ति कान्तिकी अधिकाई दीप्ती सब अवस्थामें रमणीयताका नाम माधुर्य है । भय न माननेका नाम प्रागल्भ्य है । विनयका नाम औदार्य है । अपनी श्लाघा न करके चंचलता त्यागकर स्थिर मनोवृत्ति रखना धैर्य है । अंगवेष अलंकार धारणपूर्वक प्रीतियुक्त प्रेमभरे वचन कहकर प्रियकी अनुकृतिका नाम लीला है । इष्टके देखनेसे यान स्थान आसनादि तथा मुख नेत्रादिकी विशेष विचित्रताका नाम विलास है । कान्तिकी पुष्टि करनेवाली थोडी अल्प अलंकार रचनाका नाम विच्छित्ति है । इष्ट वस्तुकाभी गर्वसे निरादर करना इसका नाम विब्बोक है । प्रीतमके संग आदिसे उत्पन्न हुए हर्षसे मृदुहास शुष्करुदन हास, त्रास, भय, क्रोध, मनके श्रमका आयास इन सबके एकत्र समावेशका नाम किलकिंचित् है । प्रीतमकी कथादिमें भाव रखकर कानआदिके खुजाते जानेका नाम मोट्टायित है । प्रीतमके केश स्तन अधरादिके स्पर्श करनेसे जो सम्भ्रमसे हाथ पैरका विधुनन है उसको

कुट्टमित कहते हैं। जो पतिके आगमनादिके हर्षमें शीघ्रताके कारण अन्यस्थानमें अन्यभूषणोंका धारण करनाहै उसको विभ्रम कहते हैं। सुकुमारतासे अंगोंके विन्यासको ललित कहते हैं। सौभाग्य यौवनके मदसे उत्पन्न हुआ विकार मद है। वचन कहनेके समय लाजसे जो न कहाजाय वह विकृत है। प्रियके वियोगसे कामावेशकी चेष्टासे उत्पन्न व्यापार पतन है। जो जानकर भी अज्ञानके समान प्रियासे वस्तु आदिके निमित्त प्रश्न है उसका नाम मौग्ध्य है। प्रीतमके समीप भूषणोंकी अर्धरचना, निरर्थक चारो ओर देखना कुछ मंद मंद गोपनीय विषयको कहना विक्षेप है। रम्यवस्तुके देखनेकी चंचलताका नाम कुतूहल है। यौवनके उद्भेदसे वृथाहास्यका नाम हसित है। प्रीतमके आगे थोडे कारणसेभी भयसे संभ्रमका नाम चकित है। विहारमें साथ क्रीडाका नाम केलि है। यह अट्ठाईस विकार स्त्रीजनोंका होते है, भावसे लेकर धैर्यपर्यन्त दश पुरुषोंको होते हैं। मुग्धा कन्या केवल देखती है, बहुत पूछनेसे कुछ कहतीहै। लेख दर्शन चेष्टा तथा दूतोंके मुखसे स्त्रियोंके भाव प्रगट होते हैं कलाकौशल उत्साहसे युक्त भक्तिमान् तत्त्वज्ञाता स्मृतिवान् मधुरभाषी बहुत वाचालतायुक्त दूती होनी चाहिये उत्तम मध्यम अधमके भेदसे यहभी कई भेदवाली हैं।

सत्त्वसे उत्पन्न हुए विकार सात्त्विक कहाते हैं, भय वा हर्षसे चेष्टाका स्तंभ होजाना, पसीना आजाना, रुएँ खडे होजाना, स्वरभंग होजाना, कंपित होना, विवर्णता होजानी, विषाद वा मदसे। क्रोध दुःख वा हर्षसे नेत्रोंमें जल आजाना, सुख दुःखकी चेष्टाका ज्ञान न रहना प्रलय है, यह भाव प्रेममें उदय होते हैं। कई कारणोंसे ग्लानि मानकर अपनी अमाननाका नाम निर्वेद है। व्यभिचारी होनेसे इनकेभी तेंतीस भेद होते हैं।

रसके धर्म काव्यमें माधुर्य ओज प्रसाद यह तीन प्रकारके हैं, सुन्तेही चित्त द्रवीभूत होकर आह्लादको प्राप्त हो इसका नाम माधुर्य हैं। मनके विस्ताररूप विकासका नाम ओज है, वीर बीभत्स रौद्र रसमें इसकी अधिकता है। जो श्रवण करतेही मनमें प्रवेश करजाय वह काव्य प्रसाद गुणवाला है।

इसके आगे ध्वनि अर्थ लक्ष्य व्यंजना आदिके अनेक विषय चलते हैं परन्तु यहां अब प्रयोजनीय अलंकार विषय कहते हैं।

शब्द और अर्थमें स्थिर रहनेवाले शोभाके अतिबढानेवाले जो रसादिके उपकारी हैं वे अलंकार कहाते हैं अलंकार शब्द. अर्थ दोनोंमें रहते हैं ।

दोहा–प्रथम शब्द याते कहैं, प्रथम शब्दके साज ।
बहुरि अर्थके जानिये, अलंकार कविराज ॥ १ ॥
उक्तिभेदते होत हैं, अलंकार यह जानि ।
वक्र उक्ति याते कही, द्वै विधि प्रथम बखानि ॥ २ ॥
कहे बात औरै कछू, अर्थ करे कछु ओर ।
वक्रउक्ति ताको कहै श्लेष शुद्ध द्वै ठौर ॥ ३ ॥
वर्ण एकसे फिर जहां, अनुप्रास है सोय ।
छेकविदग्धा वृत्ति करि, सो पुनि द्वै विधि होय ॥४॥

जहाँ बहुतसे वर्ण एकबार फिर आवैं वह विदग्धा अनुप्रास है। अनेक व्यंजनका एकधा स्वरूपसे वा वारंवार अनेक प्रकार क्रमसे एक व्यंजनका बारबार समभावसे जो वर्तना है उसको वृत्त्यनुप्रास कहते हैं।

दोहा–फिरै अर्थ पदयुत जहां, अर्थ भेद नहिं कोय ।
सो लाटानुप्रास पुनि, भावभेदते होय ॥ १ ॥
एक शब्द बहु शब्दको, एक रु भिन्न समास ।
बरने वचन समासहू, पांच भांति सुप्रकाश ॥ २ ॥

जमकलक्षण ।

दोहा–अर्थ होय भिन्नै जहां, शब्द एक अनुहार ।
जमक कहत तासों सबै, भेद अनन्त विचार॥१॥

श्लेषणलक्षण ।

दोहा–कह जेहि अर्थ अनेकको, रहै एकही रूप ।
शब्द तहां सुश्लेष है, आठ भांति सुअनूप ॥ २ ॥
वर्ण वचन अरु लिंग पुनि, कहि विभक्ति पदकांति ।
भाषा अरु प्रत्यय प्रकृति, वरन आठ याहि भांति॥३॥

चित्रलक्षण ।

दोहा–लिखवेहीकी चतुरई, उपजै भेद अनेक ।
जहां सुचित्र कवित्त है, बहुविध बन्धु विवेक ॥१॥

अर्थालंकार ।

दोहा–उपमा औ उपमेय हैं, अलंकारके प्रान ।
ताते इनको प्रथमही, कहियत रूप बखान ॥ १ ॥

होय बड़ाई सम किये, जाके सो उपमानि ।
जाको वर्णन कीजिये, सो उपमेय बखानि ॥ २ ॥

शब्द अर्थ समता कहै, दोउनकी जेहि ठौर ।
नहिं कल्पित उपमान जेहि, सो उपमा शिरमौर ॥ ३॥

शब्द सनेही पाइये, समता श्रौती सोय ।
अर्थ बिचारै आरथी, उपमा द्वै विधि होय ॥ ४ ॥

समता पद उपमेय पुनि, धर्म और उपमान ।
चारों जहँ सो पूरणा, लोपै लुप्ता जान ॥ ५ ॥

जिमि जैसो मानो रु सो, भाषा श्रौती जान ।
सम समान उपमा तुला, जोग आरथी आन ॥ ६ ॥

औरै जे समता कहैं, प्रगटाति श्रौती हेत ।
जे समझावैं अर्थसो, ते आरथी निकेत ॥ ७ ॥

लुप्ता ।

दोहा—उपमा ओ उपमेय पुनि, वाचकधर्म बखान ।
एक दोय अरु तीन पुनि, लोपै लुप्ता जान ॥ १ ॥

प्रतिवस्तूपमा ।

दोहा—समतासूचक पद जहां, रहै एक द्वै भांति ।
सो है प्रतिवस्तूपमा, पदसमूहकी कांति ॥ १ ॥

जहँ लघुता उपमानकी, सो प्रतीप है भेव ॥
प्रथम निरादर कीजिये, पुनि कीजे उपमेव ॥ २ ॥

संशयमें जो सांचसी, तेहि विधिको उपमान ।
अधिक होय उपमेयते, सो उत्प्रेक्षा जान ॥ ३ ॥

उपमा अरु उपमेयको, भेद परै नहिं जानि ।
समता व्यंग्य रहै जहां, रूपक ताहि बखानि ॥ ४ ॥

जहँ देखत उपमानको, सुधि आवै उपमेय ।
ताही सों सुमिरण कहत, जे कवि जानत भेय ॥५॥

करि निषेध उपमेयको, जहँ थापै उपमान ।
बहु विधि वाचक भेदते, ताहि उपह्नुति जान ॥ ६ ॥

जहँ संबंध बनै न तब, उपमामें विश्राम ।
हेतु क्रिया करि दोष है, निदर्शना सुखधाम ॥ ७ ॥

अति अभेद जिय राखि जहँ, नहिं कहिये उपमेव ।
उपमानै कहिये जहां, अतिशयोक्ति सो भेव ॥ ८॥

उपमान रु उपमेय पुनि, साधारण जेहि ठाउँ ।
वाचक सब प्रतिबिम्ब है, सो दृष्टान्ता नाउँ ॥ ९ ॥

अगले २ योग जहँ प्रथम अधिक गुण होय ।
मालादीपक कहत हैं, ताहि सबै कविलोय ॥ १० ॥

दीपकहीसों भेव यह, नियत एकही होय ।
उपमाने उपमेयको, तुल्य योगता सोय ॥ ११ ॥
जहां अधिक उपमानते, कहियत हैं उपमेय ।
सो व्यतिरेक बखानिये, ऊँच नीच गुण भेय ॥ १२॥

इसके चौवीस भेद होते हैं,

दोहा-कह्यो चहै न कहै बरजि, अधिकाईके हेत ।
कही रु कहिवे भेद द्वै, आछेपां कहि देत ॥ १ ॥
सो विभावना होय जहँ, कारन बिनही काज ।

विशेषोक्ति ।

सब कारण कारजनसे, उक्ति विशेष सुसाज ॥ २ ॥

उक्तनिमित्ता अनुक्तनिमित्ता यह विभावनाके दो भेद हैं।

दोहा-क्रम अर्थनको योग है, क्रमसोंही पुनि होय ।
संख्या क्रम चूकै नहीं, यथासंख्य है सोय ॥ १ ॥
जहां अर्थ सामान्यको, पोषन करे विशेष ।
पुनि सामान्य विशेषको, जेहिठां पोष न लेष ॥ २॥
सो अर्थान्तर न्यास है, और अर्थ जहँ होय ।
स्वधर्मविधर्म भेदकर, चार भांति है सोय ॥ ३ ॥
है न विरोध विरोधसो, बातन माहिं लखाय ।
जाति क्रिया गुण नाम करि, सो विरोध दश भाय॥ ४॥

जाति चारिसों तीन गुण, द्वैसे क्रिया विरुद्ध ।
नाम नामहीसों बहुरि, यों है दश विधि शुद्ध ॥ ५॥
रूप रहै जु सुभायके, तिनको वर्णन होय ।
सुसुभावोक्ति जानिये, कृतिम जहां नहिं सोय ॥ ६ ॥

बहानेसे दोष वर्णन करनेका नाम व्याजस्तुति है, और अर्थके बिना अर्थ जहाँ भला बुरा न हो उसको विनोक्ति कहते है जहां अर्थ बदले जाते हैं वह विनिमय अलंकार है सम और अर्थ भेदसे दो प्रकारका है।

सहोक्ति लक्षण ।

दोहा—एकारथ पद अर्थ द्वै, कहै साथके जोर।
जहां सहोक्ती जानिये, अलंकार तिहि ओर॥ १ ॥
बीती होनी बात जहँ, कहत प्रगटसो होय ।
भाव जहां कवि हृदयको, भाविक कहिये सोय॥२॥
पदसमूहके अर्थ यह, हेतानि द्वैविधि होय ।
जहां सुकाव्यलिंग है, है पुनि द्वै विधि सोय ॥ ३ ॥

यह भी दो प्रकारका होता है

समुच्चय वर्णन ।

मूल अर्थकी सिद्धि जहँ, एक अर्थते होय ।
औरो पोषक होय बहु, बरनि समुच्चय सोय ॥ १ ॥
एक अनेकनमें रहै, क्रमपर्यायसु और ।
सो दूजो रु अनेक जहँ, रहत एकही ठौर ॥ २ ॥

जनक परस्पर बातके, दोय अर्थ तब होय ।
एक क्रियाके योगते, सो अन्योन्यहि गोय ॥ ३ ॥

इस प्रकार संक्षेपसे थोडे अलंकारोंका लक्षण दिखा दिया है टीका करते समय भी बहुत अलंकारोंके लक्षण लिख दिये हैं सतसई पढनेवालोंको इससे बहुत कुछ काव्यका भेद खुलेगा, यदि इससे विशेष कुछ देखना हो तो वह दूसरे काव्यसाहित्यके ग्रन्थ देखे काव्य निर्णयादि काव्यके अच्छे ग्रन्थ हैं ।

आपका--ज्वालाप्रसादमिश्र.

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" स्टीम् प्रेस,
कल्याण-मुम्बई.

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम् प्रेस,
खेतवाडी-मुम्बई.

स्वर्गवासी-सेठजी

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,

" लक्ष्मीवेंकटेश्वर " छापखाना,

कल्याण-मुंबई.

श्रीगणेशाय नमः।

## अथ विहारीसतसईकी–

# अकारादिअनुक्रमपूर्वक अनुक्रमणिका।

क्ष.



ख.

छ.



ज.

स.

श.



ह.

इति अनुक्रमणिका समाप्त ।

श्रीः ।

# बिहारीसतसई-सटीक

## प्रथम शतक ।

### टीकाकारका मंगलाचरण ।

दोहा–वृंदाविपिनविहाररत, सकलसुमंगलमूल ।
बुध ज्वालाप्रसादपर, सदा रहो अनुकूल ॥ १ ॥
नँदनंदन शोभासदन, नटवर मदनगुपाल ।
मुरलीधर गिरिवर द्रवहु, कुंजविहारीलाल ॥ २ ॥

### अथ ग्रंथारम्भः ।

दोहा–मेरी भवबाधा हरो, राधा नागरि सोइ । जा तनुकी झाईं परे, श्याम हरित द्युति होइ ॥ १ ॥

सोई नागरि ( चतुर ) राधिका मेरे जन्म मरणकी बाधा ( दुःख ) हरण करे, जिन राधिकाके शरीरकी झाईंमात्र पडनेसे श्रीकृष्णकी ( हरित ) प्रफुल्लकांति होजाती है अर्थात् जिनकी झाईंमात्रसे श्रीकृष्ण प्रसन्न होजाते हैं, काव्यलिंग अलंकार है [ दोहा–हेतुसमर्थन युक्तिसों, काव्यलिंगको अंग । ह्यां भवबाधा हरनको, श्रीराधिका प्रसंग ] अथवा जिन राधिकाके शरीरकी पीत झाईं पडनेसे कृष्णके शरीरकी कांति हरित होजाती

है, प्रत्यक्ष है कि, नीलमें पीला मिलनेसे हरा रंग होता है, यहां हेतुकअलंकार जानना [ दोहा–हेतु सहित कारज जहां, कहैं हेतु कविराज । प्रिय प्रीतम रँग श्याम पिय, हेतु हरित रँग काज ] अथवा जिन राधिकाके शरीरकी झांईसे श्रीकृष्ण हरे होजाते हैं । झांईका अर्थ झलक अथवा छाया है ॥

अत्युक्ति [ राधा ] सोंठ [नागरि] नागरमोथा [सोय] सोया यह तीनों मेरी भवबाधाको दूर करो अर्थात् जिसके तनुपर झांई पडनेसे श्याम वर्ण पिटिका पडगई हैं, यह तीनों पीसकर लगावे तो उसके शरीरकी [ हरित ] डहडही कान्ति होजाती है ॥ १ ॥

शीश मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल । याहि बानिक मो मन बसो, सदा बिहारीलाल ॥ २ ॥

शिरपर मुकुट कमरमें कछनी हाथमें मुरली हृदयमें मालावाले हे बिहारीलाल ! तुम इस बनावसे मेरे हृदयमें निवास करो, जैसे उपरोक्त अलंकार अपने स्थानको छोडकर अन्यत्र नहीं रहते, इसी प्रकार आप मेरे हृदयके विना अन्यत्र न रहो । बिहारीलालका अर्थ रहस्यलीलाके रसिक । जातिअलंकार [ दोहा–जातिसु जैसो जासुको, रूप कहैं तिहि साज । जो ह्यां प्रभु बानिक जु हो, कह्यो सु त्यों कविराज ] ॥ २ ॥

मोर मुकुटकी चंद्रिका, यों राजत नँद-नँद। मनु शशिशेखरको अकस, किय शेखर शतचंद ॥ ३ ॥

मोरपंखके मुकुट धारण किये उस मोरपंखकी चन्द्राकार रेखासे नंदसुवन इस प्रकार शोभायमान होते हैं, मानों ( शशिशेखर ) शिवजीके मनकी ( अकस ) वैमनस्यता विचारकर कृष्णने अपने शिरपर सौ चन्द्रमा धारण किये हैं, तात्पर्य यह शिवने कामको दग्ध किया, कृष्णने उसका उत्तर दिया कि, जैसे तुमने जलाया वैसे हमने काम उपजाया चंद्र कामका सहायक है, इसकारण सौ चन्द्रमा धारण करके मानों सौगुणा काम उत्पन्न करेंगे ॥

असिद्धास्पदहेतूत्प्रेक्षाअलंकार [ दोहा–जहां कछू कछुसो लगे, समुझत देखत उक्त । उत्प्रेक्षा तासों कहैं, पौन मनो विष युक्त ॥ तर्क मोरचंद्रिकानमें, शशि उत्प्रेक्षा जान । हेतु अकस असिद्धास्पद, अकस असिद्ध पद मान ] ॥ ३ ॥

मकराकृत गोपालके, कुंडल सोहत कान । धस्यो मनो हिय घर समर, ड्योढी लसत निशान ॥ ४ ॥

मकरके आकारके कुंडल श्रीकृष्णके कानमें इस प्रकार शोभित होते हैं, मानों इनके हृदयरूपी भवनमें

काम ( स्मर ) प्रवेश कर गया है, निशानरूपी द्वारपाल बाहर ड्योढीपर शोभा देते हैं, यदि कहो मनसे कामकी उत्पत्ति प्रवेश नहीं बनता तो उत्तर यह है कि मनसे उत्पन्न कामकी आलम्बनके विना स्थिति नहीं होती, सो आलम्बन नायिका अन्य स्थलमें होनेसे जब मन उसकी ओर जाकर सकाम होकर आया, तब प्रवेश कहा, यहां उक्तास्पदवस्तूत्प्रेक्षाअलंकार है । कुंडल वस्तु उक्त और निशानमें तर्क अर्थात् उत्प्रेक्षा की है ॥ ४ ॥

सोहत ओढे पीतपट, श्याम सलोने गात । मनो नीलमणि शैलपर, आतप पर्‍यो प्रभात ॥ ५ ॥

पीतवस्त्र धारण किये श्रीकृष्णके सलोने ( नमकीन ) अंग ऐसे शोभित होते हैं; मानों नीले रत्नके पर्वतपर प्रातःकालमें ( आतप ) धूप पडी हो, उक्तास्पदवस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है । श्याम गात पट वस्तुमें नीलगिरि धूपकी उत्प्रेक्षा की है ॥ ५ ॥

अधर धरत हरिके परत, ओठ दीठ पट ज्योति । हरित बाँसकी बाँसुरी, इन्द्रधनुष रँग होति ॥ ६ ॥

जिस समय श्रीकृष्ण ( अधर ) होठोंपर धारण करते हैं उस समय होठ आंख और पीतपटकी लाल काली

पीली ज्योति पडती है उस समय हरे बाँसकी बांसुरी इन्द्रधनुषके समान होजाती है। बांसुरी हरी ओठ लाल इत्यादि कईरंग मिलनेसे इन्द्रधनुषसी होती है। तद्गुण अलंकार है [ दोहा-अलंकार तद्गुण कहौं, औरे गुण गहिलेत। इन्द्रधनुष भइ बाँसुरी, तजि निज गुणसों हेत ]॥ ६॥

कितनि गोकुलकुलवधू, काहि न केहि सिखदीन। कौने तजी न कुलगली, ह्वै मुरली सुरलीन॥ ७॥

हे सखि! कितनीही गोकुलमें कुलवधू हैं, किसने किसे शिक्षा नहीं दी, मुरलीके सुरमें लीन होकर किसने अपने कुलकी कान न त्यागदी। लीन-तन्मय। विशेषोक्तिअलंकार। [ दो०-विशेषोक्ति कारज नहीं, कारणकी अधिकाय। सो ह्यां शिक्षा कुलगली, रीति न रहत सुभाय]॥७॥

सखि सोहत गोपालके, उर गुंजनकी माल॥ बाहर लसत पिये मनो, दावानलकी ज्वाल॥ ८॥

हे सखि! कृष्णके हृदयमें चौंटलियोंकी माला ऐसे शोभा देतीहै, मानो पीनेपर दावानलकी लपट बाहर निकलकर शोभा देती है, श्रीकृष्णका दावानल पान करना दशमस्कंधमें प्रसिद्ध है, कोई कहै कि, अमंगल

वस्तुकी उपमा क्यों दी तो यह उत्तर है कि, सौतके हाथकी गुथी मालाको देख डाहसे सखीने ऐसा कहा, उक्तास्पदवस्तूत्प्रेक्षाअलंकार [दोहा-उत्प्रेक्षामें अरु जहाँ, संभावन जहँ होय । वस्तु हेतु फलमय त्रिविध, मनु जनु पद तहँ जोय ॥ १ ॥ तहाँ वस्तु, उक्तास्पद अनुक्तास्पद जान । हेतु सफल सिद्धास्पद, असिद्धास्पद मान ॥ २ ॥ गुंजमाल यहि वस्तुमें, करि संभावन ज्वाल । माल उक्त उक्तास्पद, मनु पद प्रगट रसाल ॥ ३ ॥] ॥ ८ ॥

नितप्रति एक तहीं रहत, वैसवरण मन एक । चहियत युगलकिशोर लखि, लोचन-युगल अनेक ॥ ९ ॥

सदा एकही वयस वर्ण मनके द्वारा नितप्रति दोनों एकत्रही रहते हैं इस युगल तरुण ( राधाकृष्ण) की जोडी देखनेको तो अनेक नेत्रोंके जोडे चाहिये, कारण कि, दो नेत्रोंसे यह शोभा नहीं देखी जाती, अथवा सखी कहती है आँखें मेरी दो हैं, अनेक चाहिये, समालंकार । [ दोहा-उचित बात ठहराइये, सम भूषण तिहि नाम । ह्वां सब विधि सम जानिये, कविवर स्यामा स्याम ॥ १ ॥] ॥ ९ ॥

गोपिन सँग निशि शरदकी, रमत रसिक रसरास । छहा छेह अति गतिनकी, सबन लखे सब पास ॥ १० ॥

गोपियोंके साथ शरदृऋतुकी रात्रीमें (रसिक) रसिया कृष्ण सरस अनुरागसे रासमें क्रीडा करते रहे (लहाछेह) शीघ्रताके कारण अनेक गतियोंके सेवनसे सबने श्रीकृष्णको सबके पास देखा। विशेषालंकार [दोहा—एक वस्तु बहु ठौरमें, जहँ वर्णनकी होय। सो विशेष भूषण कहैं, जानत हैं सब कोय॥ १॥ ]॥१०॥

**मोहिं करत कत बावरी, किये दुराव दुरै न।**
**कहे देत रँग रातके, रंगनिचुरतसे नैन॥११॥**

पति अन्य कहीं रमण करके आये, और अपनी प्रियासे छिपाव किया, तब उसने कहा भला मुझे क्यों बावरी बनाते हो, यह छिपवा कियेसे न छिपेगा, लालरंग निचुरतेसे नेत्रही रातका रंग कहेदेते हैं, अर्थात् रातके जागनेकी लाली विद्यमान है, काव्यलिंग। रंग निचुरते नेत्रने रातका रंग दृढ किया॥ ११॥

बाल कहा लाली भई, लोयन कोयन माँहि।
लाल तिहारे दृगनकी, परी दृगनमें छाँहि १२

प्रश्नोत्तर। कृष्ण बोले हे बाला! तुम्हारे नेत्रोंके कोयोंमें लाली कैसी होरहीहै, सखी बोली प्यारे और कुछ नहीं तुम्हारे नत्रोंकी लालीकी परछाही मेरे नेत्रोंमें पडी है उत्तरालंकार छेकानुप्रास प्रत्युत्तरसे प्रसिद्धही है॥ १२॥

दुरै न निघर घटौदिये, यह रावरी कुचाल।
विषसी लागत है बुरी, हँसी खिसीकी लाल १३

( निघर घटोंदिये ) ढुलखनेसे, वा ढिठाई करनेसे यह आपकी कुचाल नहीं छिपती, हे लाल ! ( कृष्ण ) खिसि-यानेकी हँसी विषके समान बुरी लगती है, पूर्णोपमा । [ दोहा–समता समवाचक धरम, वर्ण चारि इक ठौर । शशिसों निर्मल मुख यथा, पूरण उपमा गौर ॥ ] हँसी उपमेय, विष उपमान, बुरा लगना धर्म ॥ १३ ॥

स्वेदसलिल रोमांच कुश, गहि दुलहिन अरुनाथ । दियो हियो सँग नाथके, हाथ लियेही हाथ ॥ १४ ॥

गंधर्वविवाह सात्त्विकभाव हे सखि ! विवाहके समय दूलह और दुलहीने ( स्वेद ) पसीनारूपी जल और रोमां-चरूपी कुश ग्रहण कर हाथमें हाथ लियेही अपना हिया स्वामीके संग कर दिया । विवाहमें पाणिग्रहण होतेही दोनोंने मन दिया [ आसिद्धरः कंटकितः प्रकोष्ठे स्विन्नां-गुलिः संववृते कुमारी ] रूपक अलंकार ॥ १४ ॥

कहत न देवरकी कुवत, कुलतिय कलह डराति ॥ पंजरगत मंजार ढिग, शुकलौं सूखति जाति ॥ १५ ॥

( कुलतिय कुलवधू देवरकी कुटिल बातें नहीं कहती क्लेशसे डरती है बिलावके ढिग बैठेहुए पींजरेमें पडे तोतेके समान सूखती जाती है, दृष्टान्तालंकार [ दोहा–सम

बिम्बनि प्रतिबिम्ब गति, है दृष्टान्त सुढंग। पंजरगत मंजारढिग, शुक वर्णन कविरंग ] ॥ १५ ॥

पाऱ्यो शोर सुहागको, इन बिनही पिय नेह ॥ उन दोही अँखियाँकिकै, कै अलसौंही देह ॥ १६ ॥

हे सखी! इसने पियाके स्नेह विनाही सुहागका शोर डाला, अर्थात् प्रीति प्रसिद्ध की, उनींदी आँखों अथवा अलसानी देहसे यह बात जानी जाती है। यदि कहो कि प्रीतमके नेह बिन सुहाग प्रसिद्ध नहीं होता, तो उत्तर यह कि, यह नायकाकी निज सखीकी वचन सौतकी सखीसे है कि इसकी प्रीतिको किसी सौतकी कुदृष्टि न लगे। पर्यायोक्ति। [ दोहा—पर्यायोक्ति जहां नई, रचनासों कछु बात साधै इष्ट बनायके, निज छल नहीं लखात ] ॥ १६॥

छुटी न शिशुताकी झलक, झलक्यो यौवन अंग। दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता रंग ॥ १७ ॥

बालकपनकी झलक नहीं छुटी, कि अंगमें यौवन झलका, दोनोंके मिलनेसे देहकी दीप्ति ताफतारंगके समान चमकती है, वयसन्धि वर्णन. ताफता—धूप छांहको कहते हैं जैसे इसमें ताने बानेके दोनों रंग चमकते हैं इस-प्रकार उसके अंगमें बालापन और यौवन झलकता है।

वाचकलुप्तोपमा [ दोहा-उपमेय रु उपमा धरमा, वाचक कहं तहं पाठ । इक बिन द्वै बिन तीन बिन, सो लुप्तोपम पाठ ] ॥ यह जयपुरी दृश्य है ॥ १७ ॥

तिय तिथि तरणि किशोर वय, पुण्यकालसम दोन । काहू पुण्यनि पाइयत, वैस संधि संक्रोन ॥ १८ ॥

सखीका कृष्णसे अन्य सखीका रूप कहना, वह सखी तिथि है तरुण अवस्था सूर्य है, पुण्यकाल समान दोनों अवस्था हैं, कोई किसी पुण्यसेही अवस्था और संक्रांतिकी संधि पाता है, अर्थात् ऐसे समय तियाका मिलना भाग्यसे होता है जब कि, बाल अवस्था छूटकर तरुणाई आती हो, सूर्य राशि छोडकर दूसरीमें जाताहै यह संक्रान्तिका पुण्यकाल है सविषय सावयव रूपकालंकार । [ दोहा-रूपक सविषय सावयव, सकल वस्तु जुब खान । रूप कीजिये ह्यां वयहि, अंग संक्रमन जान ] ॥ १८ ॥

लाल अलौकिक लरिकई, लखि लखि सखी सिहाँति ॥ आज कालमें देखियत, उर उकसोंहीं भाँति ॥ १९ ॥

हे कृष्ण ! उस सखीकी अलौकिक लोकोत्तर लरिकाई देखकर सखी प्रसन्न होती है, कारण कि आज कलमेंही उरोज उकसे से दखिनेवाले हैं । लोकोक्ति अलंकार [ दोहा-

लोक कहन वर्णन जहां, लोकोक्ति कहि ताहि। आजकाल यह लोककी कहन प्रसिध चितचाहि ॥ ] ॥ १९ ॥

अपने अँगके जानिक, यौवन नृपति प्रवीन ॥ स्तन नयन नितम्बको, बडो इजाफा कीन ॥ २० ॥

चतुर यौवन राजाने अपने ( अंगके ) सहायक जानकर कुच, मन, नेत्र ( नितम्ब ) कटिपश्चाद्भाग इनकी अधिकतर वृद्धि की । हेतूत्प्रेक्षालंकार ॥ २० ॥

नवनागरि तनु मुलक लहि, यौवन आमिल जोर । घाटि बाढिते बाढिघाटि रकम, करी औरकी और ॥ २१ ॥

यौवनरूपी ( आमिल ) हाकिमने नवनागरीका शरीररूपी देश पाकर, अपने बलसे घटी बढी वस्तुकों बढा घटाकर औरकी औरही करडाली, अर्थात् लरिकाईको निकालदिया, कमरको घटादिया. आंखें, केश, स्तन, नितम्ब, चतुराईको बढादिया, स्वाभाविक चेष्टा चाल चलनको औरका औरही करदिया । सविषयसावयवरूपकालंकार ॥ २१ ॥

ज्यों २ यौवन जेठदिन, कुचमिति अति अधिकाति । त्यों २ क्षण २ कटिक्षपा, क्षीण परत नित जाति ॥ २२ ॥

जैसे जेठके महीनेमें दिनका प्रमाण बढता है तैसे योवनके आनेसे कुचोंका प्रमाण बढताहै, जैसे २ जेठके महीनेकी रात घटती है त्यों त्यों उसकी कमर घटती जाती है, अति अधिकातका भाव यह कि, योवनसे स्तन बढे और स्तनसे शोभा बढी। तद्रूपरूपकलंकार॥२२॥

बाढत तो उर उरज भर, भर तरुणई विकास ॥ बोझनि सौतनिके हिये, आवत रूंध उसास २३

तेरा हृदय कुचोंके बोझ और युवावस्थाके खिलनेकी चमकसे बढताहै. इन बोझोंसे सौतोंके हियेमें घुटकर श्वास आता है। असंगतिअलंकार ॥ २३ ॥

भावक उभरोहौं भयो, कछुक पर्यो भरु आय ॥ सीपहराके मिस हियो, निशदिन हेरतजाय ॥ २४ ॥

हृदय थोडासा एक ऊँचासा हुआ और कुछक बोझ आकर पडा, सीपके हारके बहानेसे छाती रात दिन देखते जाय है, भरु–बोझ। पर्यायोक्ति। [दोहा–छलकर साधिय इष्ट जहँ, पर्यायोक्ति विशिष्ट। सीपहराके मिस हियो, लखति सुसाधति इष्ट ] ज्ञातयोवनामुग्धा है ॥ २४ ॥

देह दुलहैयाकी बढै, ज्यों ज्यों यौवनज्योति ॥ त्योंत्यों लखि सौतैं सबै, वदन मलिन द्युति होति ॥ २५ ॥

ज्यों ज्यों दुलहिनकी देह बढती है, त्यों २ यौवनकी ज्योति बढती है, तेसे तेसेही देखकर सौतोंके मुखकी कांति मलीन होतीहै । नवोढा मुग्धा । उल्लासालंकार [ दोहा–इकके गुणसे होय जहँ, औरही दोष उलास । दुल्हीके गणते बढ्यो, सौतिन दोष प्रकास॥] ॥२५ ॥

मानो मुख दिखरावनो, दुलहिन करि अनुराग ॥ सास सदन मन ललनहूं, सौतिन दियो सुहाग ॥ २६ ॥

मानो मुख दिखानेके बहानेसे प्रेमकरके दुलहीको सासने घर, पतिने मन, ओर सोतोंने सुहाग अर्थात् पतिका प्यार दियाहे, प्रसिद्धहे कि, नई बहूको मुख दिखरावनी दीजातीहे । हेतूत्प्रेक्षालंकार ॥ २६ ॥

निरखि नवोढा नारि तनु, छुटत लरकई लेस ॥ भो प्यारो प्रीतम तियन, मानहुँ चलत विदेस ॥ २७ ॥

नवोढा स्त्रीका शरीर देखकर लरिकाईका लगाव छूटने लगा तब प्रियतम स्त्रियोंको इस प्रकार प्यारा लगने लगा मानो परदेशको चलताहे, परदेश जाते समय पुरुष बहुत प्रिय लगताहे । हेतूत्प्रेक्षा ॥ २७ ॥

ढीठो दै बोलति हंसति, प्रौढ विलास अप्रौढ ॥ त्योंत्यों चलत न पियनयन, छकये छकी नवोढ ॥ २८ ॥

यह सखी ढिठाई देकर बोलती और हँसती है इसकी लीला प्रोढाकीसी है, और यह प्रोढा नहीं है, जैसे २ यह लीला करती है तैसे २ प्रीतमके नयन इसकी ओर लगनेसे चलायमान नहीं होते, यौवन रूपकी मतवाली नवोढाने मतवाला किया है। स्वभावोक्ति [ दोहा--सूधी सूधी बातसे, स्वभावोक्ति पहिचान। लीला बोलन हँसनकी, तिय स्वभावमें मान ] ॥ २८ ॥

चालेकी बातें चलीं, सुनत सखिनके टोल ॥ गोयेहू लोचन हँसति, विहँसत जात कपोल ॥ २९ ॥

सखियोंके समूहमें गौनेकी बातें सुनकर आँखें छिपाकर भी हँसती है, और गाल हँसीसे मानों मुसकुराते जाते हैं। स्वभावोक्ति। ललिता कामामुग्धा है ॥ २९ ॥

लखि दौरत पियकर कटक, वास छुडावन काज ॥ वरुनी वन दृगगढनिमें, रही गुढोकरि लाज ॥ ३० ॥

देखकर प्रीतमका हाथरूपी कटक जो वस्त्र और ठौर छुटानेके कामको दौडताहै, उस समय वरौनियोंके वन और नेत्ररूपी दुर्गमें मानो भाजकर लाजने वास किया है। सुतरके समय लाज मानों पलकोंके बालोंमें छिपी साविषय सावयव रूपक ॥ ३० ॥

दीप उजेरेहू पतिहि, हरत बसन रति काज ॥ रही लपटि छबिकी छटनि, नेकौ छुटी न लाज ॥ ३१ ॥

दीप उजेरेहीमें जब पतिने रतिके निमित्त वस्त्र हरण किये तबभी वह छबिकी छटाकी ज्योतिसे लिपटीही रही नेकभी लाज न छूटी इसकारण पतिका यत्न न पूरा हुआ। विशेषोक्ति [ दोहा–विशेषोक्ति कारज नहीं, कारणकी अधिकाय। निलज करनको यत्न किय, लाज न छूटन पाय ] ॥ ३१ ॥

समसर समर संकोचवश, विवसन ठिकु ठहराय। फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकतिजाय ॥ ३२ ॥

समान गुणवाले काम और संकोच (लाज) के वशसे अवश हो ठीक नहीं ठहराती, फिर फिरकर झाँकतीहै, फिर छिपतीहै फिर आके छिप २ कर झाँकती है, आशय यह कि, प्रीतम मुझे न देखैं न प्रीतमके देखतेमें कोई मुझे देखे। यमकालंकार लाटानुप्रास [ दोहा–वहै शब्द फिरि फिरि परै, अर्थ और ही और। सो यमकानुप्रास है, भेद अनेकन ठौर ॥ १ ॥ एक शब्द बहुवार जो, सो लाटानुप्रास। तात्पर्यते होत है, औरे अर्थ प्रकास ॥ २ ॥ ] ॥ ३२ ॥

करे चाहसों चुटकिकै, खरे उडोहैं मैन ॥
लाज नवाये तरफरत, करत खूंदसी नैन २३

मैंने अर्थात् कामदेवने चाहसे चुटकाकर उडते था उठतेहुयेसे खडे किये, लज्जाके नवाये पर खुरीसी करतेहुए नेत्र तडफडाते हैं। इसमें नेत्रोंको घोडेके समान निरूपित कियाहै उन्हें कामरूपी चाबुककी चाहसे चाबुक मार उठो है परन्तु लाज झुकादेती है चुटकीके चाबुकका चटाका करके खुदी खूंदतीहुई चाल अथवा पैरमें नख बढजानेकी चाल, उपमान लुप्तालंकार [ दोहा—नैन यहां उपमेय हैं, सो वाचक परमान । लुदधर्म यह ना कह्यो, लुप्त यह उपमान ॥ २३ ॥

छुटी न लाजन लालचौ, प्यौलखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे, भरे सकोच सनेह२४

नेहरके घरमें पियाको देखकर न तो लाजही छुटी; और न लालचही छूटा, संकोच और सनेहसे भरेहुए नेत्र आगे सटपटाते रहे, पर्यायोक्तिअलंकार ॥ २४ ॥

पिय बिछुरनको दुसह दुख, हरषजात प्यौसार ॥ दुर्योधनलौं देखियत, तजत प्राण इहिवार ॥ २५ ॥

पियाके बिछुरनेका महादुःख है; और प्यौसार माके जानेका महासुख है, इस समय दुर्योधनके प्राण छुटनेकीसी

दशा होरहीहै, दुर्योधनका मरण हर्ष शोकके मध्यमें था।
अथवा इहिवार नाम यह बाला दुर्योधनके समान है, पह-
लेमें उपमेय हुआ और दूसरेमें पूर्णोपमा ॥ ३५ ॥

पति रतिकी बतियां कहीं, सखी लखीं मुसकाय। करिकै सबै टलाटली, अली चलीं सुख पाय ॥ ३६ ॥

पतिने जो रतिकी बातें कहीं, सो प्यारीने सखीको मुसकाकर देखा, तब सब आली टालाटाली करके सुख पाय घर चलीं पर्यायोक्ति ॥ ३६ ॥

सकुच सुरत आरंभही, बिछुरी लाज लजाय। ढरकि ढार ढरि ढिग भई, डीठ डिठाई आय ॥ ३७ ॥

संकोच कामकेलिके आरंभहीमें बिछुरगई जाती रही लाजसे लज्जित होके ढुढकनेकी भाँति प्रसन्न होकर निर्लज्ज ढिठाई मानो प्रियाके निकट आकर स्थितहुई, वृत्ति अनुप्रास [ दोहा-कहुँ सारि वर्ण अनेककी, परै अनेकन बार। एकहिकी आवृत्ति कहुं, वृत्ती दोइ प्रकार ]॥ ३७॥

सब अँग करि राखी सुघर, नायक नेह सिखाय। रसयुत लेति अनन्त गति, पुतरी पातुरराय ॥ ३८ ॥

नायक ( संगीतादि सब भेदके ज्ञाता ) नेहने सिखा कर उसे सब अंगसे चतुर कर रक्खी है अनुरागके साथ अनन्तगति लेती है वह नृत्य करनेवालियोंकी सरदार है अविषय सावयव रूपक ॥ ३८ ॥

विहँसि बुलाय विलोक उत, प्रौढातिया रस घूमि । पुलकि पसीजति पूतको, पिय चूम्यो मुख चूमि ॥ ३९ ॥

सौतके बेटेका मुख पतिने चूमा तब प्रौढतिया रसमें घूमि मत्त होकर उसे देख हँसकर बुलाय उस पियके चूमे पूतके मुखको चूमकर पुलकित हो पसीजी सात्विकभाव असंगति अलंकार [ दोहा—हियमें काम प्रकाशसे, चहिये पियमुख चूमि । संगति तज प्रौढा सुवन, मुख चूम्यो रस घूमि ] ॥ ३९ ॥

सोवत लखि मन मान धर, ढिग सोयो प्यौ आय । रही सुपनकी मिलन मिलि, पिय हियसों लिपटाय ॥ ४० ॥

प्यारीको सोया देखकर पति मानसे उसके निकट आसोया उस समय स्वामीको हृदयसे लगाकर प्यारी नींदकी मिलनेसे मिलरही पर्यायोक्ति ॥ ४० ॥

त्रिवलीनाभि दिखायके, शिर ढकि सकुचि समाहि । गली अलीकी ओट है, चली भली विधि चाहि ॥ ४१ ॥

उदरकी त्रिवली और नाभि दिखाके शिर ढक सकुचमें आके गलीमें आलीकी ओटमें प्यारी पियाको भली प्रकार देखकर चली स्वभावोक्ति अलंकार ॥ ४१ ॥

देखत कछु कौतुक इतै, देखो नेक निहारि ॥ कबकी इकटक डटि रही, टटिया अँगुरिनि फारि ॥ ४२ ॥

सखी बोली प्यारे देखतहो कुछ कौतुक तनक इधर निहारके तो देखो तुम्हारी प्यारी अँगुरीसे टट्टीको फारकर कबसे टकटकी लगाये अटकरही है स्वभावोक्ति ॥ ४२ ॥

भौंहनि त्रासति मुख नटति, आँखिनसों लपटाति । ऐंच छुरावत कर इँची, आगे आवति जाति ॥ ४३ ॥

भौंहसे डरती है, मुखसे नाहीं करती है, अँखियासे लिपटती है, खेंचकर छुडावती है परन्तु खिंची हुई स्वामीके पास आती जाती है, स्वभावोक्ति ॥ ४३ ॥

देख्यो अनदेख्यो कियो, अँग अँग सब दिखाय । पैठतिसी तनुमें सकुचि, बैठी चितहि लजाय ॥ ४४ ॥

सखी तुमने देखा कि, प्यारीने अपना सब अंग अंग दिखाकर हमारा देखा अनदेखा किया; सकुचाकर शरीरमें पैठती हुईसी अपने मनको लजाकर बैठी स्वभावोक्ति अलंकार अप्राकृतगुप्ता ॥ ४४ ॥

कारे वर्ण डरावनो, कत आवत इहि गेह।
कै वा लख्यो सखी लखे, लगै थरहरी देह ४५

कृष्णको देख प्यारी बोली सखी कारा वर्ण डरावना है इस घरमें क्यों आवे है? सखी मैंने कईबार देखा कि इसके देखनेसे मेरे शरीरमें कपकपी लगती है, व्याजोक्ति [ दोहा—व्याजवचन कछु कह जहां, मनको भाव दुराय। व्याजोक्ति जैसे यहां, श्यामवर्ण डरपाय ] ॥ ४५ ॥

देवर फूल हने जु शिशु, उठी हर्षि अँग फूल। हँसी करत औषधि सखिनि, देह ददोरानि भूल ॥ ४६ ॥

सखी पडोसिनसे बोली कि, मेरे बालक देवरने जो मेरे फूल मारे अथवा फूलोंकी कली मारी सो मैं हर्ष उठी और अंग फूलि आये सात्विक भाव हुआ सखियां देहके ददोरोंसे भूलकर औषध और हँसी करती हैं फूल लगनेसे अंग फरके और ददोरे पडे ॥ ४६ ॥

इहि काँटे मो पाय लगि, लीनी मरति जिवाय। प्रीति जनावति भीतिसों, मीत जु काढ्यो आय ॥ ४७ ॥

सखी इस कांटेने मेरे पांवमें लगकर मुझे मरतेसे जिवालिया सखी सखीसे बोली देखो इसकी बातें इसके प्रीतमने जो आनकर कांटा काढा इस कारण यह डरसे

प्रीति जनाती है विभावनालंकार [ दोहा—कारज बने विरु-द्धते, विभावना विस्तार । कांटेते जीवन भयो, यह विरुद्ध निरधार ] ॥ ४७ ॥

घाम घरीक निवारिये, कलित ललित अलिपुंज । यमुनातीर तमालतरु, मिलति मालती कुंज ॥ ४८ ॥

प्यारे यहां एक घरी ठहरकर घाम ( धूप ) निवारण करो सुन्दर भौंरोंके झुंड यहां गुँजरहे हैं, और तमालवृक्षों में चमेलीकी कुंजें मिलरही हैं. आशय यह कि, एकांत ठौर है सूढोक्ति [ दोहा—गूढ वचन कहि भाव निज, प्रगट करत जो तीय । गूढोक्ति सो जानिये, रसिकनको कमनीय ] ॥ ४८ ॥

हरषिन बोली लखि ललन, निरखि अमि-ल सँग साथ । आंखनहीमें हँसि धर्‌यो, शीश हिये पर हाथ ॥ ४९ ॥

हे सखी प्यारी ! अपने संगमें अनमिल समूह देखकर प्यारेको देख प्रसन्न हुई और बोली नहीं आखोंहीमें हँसकर शिर और छातीपर हाथ रक्खा. तात्पर्य यह कि, प्रणाम कर कहा तुम मेरे मनमें वसतेहो मैं तुमसे रातको मिलूँगी सूक्ष्मालंकार [ दोहा—इंगित हावनसों जहां, मनको भाव बताय । सो सूक्ष्मालंकार है, गुणियनको सुखदाय ] ॥ ४९ ॥

न्हाय पहरि पट उठ कियो, बेंदी मिस परणाम । दृग चलाय घरको चली, बिदा किये घनश्याम ॥ ५० ॥

प्रियाने स्नान कर वस्त्र पहर बेंदीके मिससे प्रणाम किया नेत्र मटकाय अपने घरको कृष्णको बिदाकर चली, पर्यायोक्ति ॥ ५० ॥

चितवत जितवत हित हिये, किये तिरीछे नैन । भीजे तनु दोऊ कँपे, क्यों हू जप नियरैन ॥ ५१ ॥

दोनों स्त्री पुरुष एक दूसरेको तिरछे देखकर हृदयका हित जनाते हैं भीजे शरीरसे दोनों कांपते हैं परन्तु किसी भाँति जप संपूर्ण नहीं होता पूर्वार्द्धमें जाति उत्तरार्द्धमें विशेपोक्ति अलंकार है ॥ ५१ ॥

मुख धोवत एँडी घसति, हँसति अनँगवति तीर । धसति न इन्दीवरनयनि, कालिन्दीके नीर ॥ ५२ ॥

मुँह धोती और एँडी घिसती है किनारेपर वह कामवती स्त्री खेल करती है परन्तु वह नीलकमललोचनी यमुनाके जलमें प्रवेश नहीं करती जाति और पर्यायोक्ति ॥ ५२ ॥

नहिं अन्हाय नहिं जाय घर, चित चहुँ-

टचो ताकि तीर । परशि फुरहरी ले फिरति, विहँसति धसति न नीर ॥ ५३ ॥

न तो स्नान करती है न घर जाती है प्यारेको तकनेको तीरपरही मन लगा है, जलको छूतेही फुरहरीले पीछेको हँसकर हटती है पानीमें नहीं घुसती पर्यायोक्ति चहुँटचो चुभगया ॥ ५३ ॥

चितई ललचौहैं चखनि, डटि घूँघट पट-मांहि । छलसों चली छुवायके, क्षणक छबीली छांहि ॥ ५४ ॥

लाजभरे नेत्रोंसे देखा घूँघटके पटमें डटकर प्यारीने फिर छलसे क्षणेक अपनी छबीली छाँह छुआके चली आशय यह कि प्रीतमकी छाँहसे छांह छुआके चली इसमें यह दिखाया कि मैं तुम्हारे साथ छांहके समान हूं स्वभावोक्ति ॥ ५४ ॥

लाज गहो बेकाज कत, घेर रहे घर जाहिं । गोरस चाहत फिरतहो, गोरस चाहत नाहिं ॥ ५५ ॥

हे कृष्ण ! तनक तो लाज गहो विना काज हमें क्यों घेर रहे हो हम अपने घर जाँय तुम बातोंके रसको अथवा इन्द्रियोंके रसके चाहते फिरोहो गोरस दूध दही नहीं चाहतेहो यमकालंकार [ दोहा-पृथक् २ हों अर्थ जहँ

पद हों एक समान । सो यमकालंकार है, कविजन करत बखान ॥ ] ॥ ५५ ॥

सबही तनु समुहाति क्षण, चलति सवनि है पीठ । वाही तनु ठहराति यह, किबलनुमालौं दीठ ॥ ५६ ॥

क्षणमात्र सबहीकी ओर देखती है और क्षणमें सबहीकी ओर पीठ दे चलतीहै, परन्तु यह किबलेनुमासी दृष्टि इन्हीं ( कृष्ण ) की ओर ठहरतीहै, किबलेनुमा सदा पश्चिमहीकी ओर रहताहै पूर्णोपमा, दृष्टि उपमेय किबलेनुमा उपमान, लौं वाचक, समुहातिधर्म है ॥ ५६ ॥

खरी भीरहू भेदिकै, कितहूं ह्वै इत आय । फिरै दीठ जुरि दीठसों, सबकी दीठ बचाय ॥५७॥

प्यारीकी दृष्टि कितहूं होय बहुतसी भीरको भेदकर भी इधर आती है और सबकी दृष्टि बचाकर स्वामीकी दृष्टिसे प्रियाकी दृष्टि मिलकर फिरती है विभावनालंकार॥५७॥

कहत नटत रीझत खिजत, मिलत खिलत लजियात । भरे भौनमें करति है, नैननिमें सब बात ॥ ५८ ॥

कहते हैं, नाहीं करते हैं, प्रसन्न होते, खिजते, मिलते, खिलते और लजाते हैं, भरे घरमें सब बातें नेत्रोंमेंही

करते हैं. आशय यह कि प्यारेने चलनेका संकेत किया प्यारीने नाही करी इस भावसे प्यारे रीझे, तब प्यारी खीजी, फिर मिलकर नायक प्रसन्न हुए, प्यारी लजाई. पूर्वार्द्धमें कारकदीपक अलंकार [ दोहा–जहां कहूं इक वाक्यमें, भाव अनेक दिखाहिं । कारक दीपक कहत हैं, कविजन ताहि सराहिं॥ ] उत्तरार्द्धमें विभावना है॥ ५८॥

दीठ बरत बांधी अटनि, चढि आवत न डरात । इत उतते चित दुहुंनके, नटलों आवत जात ॥ ५९ ॥

दोनोंने अटारीपरसे दृष्टिकी रस्सी बांधी है, उसपर बराबर चढते आते हैं डरते नहीं इधर उधरसे ( उन रस्सोंपर ) दोनोंके मन नटके समान आते जाते हैं, रूपकालंकार पूर्णोपमालंकार है ॥ ५९ ॥

कंजनयनि मज्जन किये, बैठी ब्यौरति बार । कच अँगुरिन बिच दीठ दै, चितवति नंदकुमार ॥ ६० ॥

कमललोचनि स्नानकर बैठकर बार ब्योरने ( सुलझाने ) लगी परन्तु बालोंमें अंगुलियोंके लगानेमें जो छिद्र होते हैं उन छिद्रोंमें दृष्टि लगाकर कृष्णको देख रही है पर्यायोक्ति ॥ ६० ॥

जुरे दुहुँनके दृग झमकि, रुके न झीने

चीर । हलकी फौज हरोल ज्यों, परति गोलपर भीर ॥ ६१ ॥

दोनोंके नेत्र झमककर जुरे झीने वस्त्रमें रुके नहीं. जैसे सेनाकी हलकी हरावलके समान गोलपर भीर पडती है हरोल सेनाका अग्रभाग प्यारीके नेत्र राजाकी सेना, घूंघटपट हरोल, और प्रियके नेत्र दक्षिणी कटक दृष्टान्तालंकार ॥ ६१ ॥

पहुँचति डटि रण सुभटलौं, रोंकि सकै सब नाहिं । लाखनहूकी भीरमें, आँखि वहीं चलिजाहिं ॥ ६२ ॥

रणके शूरमाके समान वहीं डटके पहुँचती है, सबभी नही रोक सकते। लाखोंकीभी भीरमें आंखें वही चलकर जाती हैं, विशेषोक्ति विभावना पूर्णोपमा ॥ ६२ ॥

ऐंचातिसी चितवन चितै, भई ओट अरसाय । फिर उझकनको मृगनयनि, दृगनि लगनियां लाय ॥ ६३ ॥

खेंचतीसी दृष्टिसे देखकर फिर अलसाकर ओटमें हुई मृगनयनी मेरे नेत्रोंमें लगनियां लगाकर फिर देखनेके निमित्त अथवा हे सखी ! मृगनयनी मैं फिर उसके झांकनेके निमित्त अपने नेत्रोंमें लगन लगा रहाहूं कि वह मुझे प्यार करती है फिर उझकेगी. अनुमानालंकार, जहां किसी बातसे कुछ मनमें होनहार विचारी जाय वह अनुमान है॥ ६३॥

दूरौ खरे समीपको, मानलेत मन मोद। होत दुहुँनके दृग मेहीं, बतरस हँसी विनोद ॥ ६४ ॥

यद्यपि वे दोनों दूर खडेहैं. परन्तु समीपका मनमें आनंद मानतेहैं, दोनोंके नेत्रोंमेंही बातोंका रस और हँसीका आनंद होताहै प्रथम विभावनालंकार ॥ ६४ ॥

यदपि चवायनि चीकनी, चलति चहूँ दिश सैन। तदपि न छाँडत दुहुँनके, हँसी रसीले नैन ॥ ६५ ॥

यद्यपि चवाव करनेमें चिकनी चुटपटी चतुर है यद्यपि चारों ओर उँगुली उठा उठाकर, लोगोंकी सैन चलाती है, तौभी दोनोंके रसीले नेत्र हँसी नहीं छोडते, तीसरी विभावना ॥ ६५ ॥

सटपटातसी शशिमुखी, मुख घूँघटपट ढांकि। पावक झरसी झमकिकै, गई झरोखे झांकि ॥ ६६ ॥

चन्द्रमुखी सटपटातीसी घूँघटके पटसे मुख ढककर अग्निकी झरसी झमकके झरोखेमें झांककर गई पूर्णोपमा ॥ ६६ ॥

कबकी ध्यान लगी लखौं, यह घर लगि

है काहि । डारियत भृंगी कीटलौ, जिन वहई ह्वैजाहि ॥ ६७ ॥

हे सखी ! मैं इसे कबकी ध्यान लगाये देखरही हूं यह इसका घर कौन सँभालैगा. मुझे डर है कि, भृंगी कीटके समान ध्यान करते करते कहीं जिसका ध्यान करती है वही न होजाय भृंगी कीडा जिसे पकडताहै क्षणमें उसे अपना स्वरूप बनालेताहै स्मृति अलंकार ॥६७॥

रही अचलसी ह्वै मनो, लिखी चित्रकी आहि। तजे लाज डर लोकको, कहो विलोकति काहि ॥ ६८ ॥

वह ऐसी अचलसी होरही है, मानो चित्रकी लिखी हो, लोककी लाज और लोकका भय छोडकर कहो किसको देखती हो, उत्प्रेक्षालंकार ॥ ६८ ॥

पल न चलै जकिसी रही, थकिसी रही उसाँस । अबही तन रितयो कहा, मन पठयो किहिं पास ॥ ६८ ॥

हे प्यारी ! तुम्हारी पलक नहीं चलती, जडसी होरही हो, तथा उसाँस थकसा रहा है, क्या अबहीं किसीके पास अपना मन भेजकर तनु रीता किया है स्मृतिछेकानुप्रास ॥ ६९ ॥

नाम सुनतही ह्वै गयो, तनु औरै मन

और । दबै नहीं चित चढरह्यो, अबै चढायें त्यौर ॥ ७० ॥

प्यारी उनका नाम सुनतेही तुम्हारा तन और मन और और होगया, त्योरीके चढायेसे जो चित्तपर चढ रहा है सो दबता नहीं भेदकांति और छेकानुप्रास अलंकार७० ॥

पूछे क्यों रूखी परति, सगबग रही सनेह । मनमोहन छबि पर कटी, कहै कटयानी देह ॥ ७१ ॥

मेरे पूछनेसे क्यों रूखी होती है तू तो स्नेहमें सरबोर हो रही है, तू मनमोहनकी छबिपर रीझ रही है, सो तेरे शरीरके रोमांच कहे देते हैं, काव्यालिंग ॥ ७१ ॥

प्रेम अडोल डुलै नहीं, मुख बोलै अनखाय । चित उनकी मूरति बसी, चितवनि माहिंलखाय ॥ ७२ ॥

हे सखी ! तुम्हारा प्रेम अडोल है डुलता नहीं, और मुखसे अनखाकर बोलतीहो, मनमें तुम्हारे प्यारेकी मूर्ति बसी है, सो नेत्रोंमें दीखती है अथवा प्रेम निश्चलही है मुखसे अनखाकर बोलनेसे डुलेगा नहीं, उनकी मूर्त्ति तेरे मनमें बसी है, यह चितवनहीमें दिखाई देता है, अथवा प्रेम डोल है सो हमने जाना कारण कि, डुलता है, भाव यह, कि मूर्ति नहीं डुलती इससे तेरा चित्त उनमें दृष्टि आता

है और मुझसे बोलनेमें अनख है इससे विदितहै कि, हृदयमें नहीं अनुमानअलंकार ॥ ७२ ॥

ऊँची चितै सराहियत, गिरह कबूतर लेत । दृग झलकित मुलकित बदन, तनु पुलकित कहि देत ॥ ७३ ॥

ऊँचे देखकर सराहा जाता है, कबूतर गिरह लेता है किस कारण नेत्र झलकते मुख मुलकता और शरीर पुलकित होता है, नायकका कबूतर देखकर प्यारीके मनमें उसका स्वरूप आनेसे सात्विक भाव हुआ हेतुअलंकार ॥ ७३ ॥

यह मैं तोहीमें लखी, भक्ति अपूरव बाल। लहि प्रसादमाला जु भौ, तनु कदम्बकी माल ॥ ७४ ॥

हे प्यारी ! यह मैंने तुझीमें अपूर्व भक्ति देखी कि, प्रीतमके गलेकी प्रसादमाला पाकर तेरा शरीर कदम्बकी मालासा हुआ रोमांच सात्विक हुआ हेतुअलंकार ॥७४॥

कोटि यतन कीजे तऊ, नागरिनेह दुरै न ॥ कहे देत चित चीकनो, नई रुखाई नैन॥७५॥

हे नागरी ! चतुरी चाहे कोटि उपाय करो, परन्तु प्रेम नहीं छिपता, स्नेहभरा मन और नेत्रोंकी नई रुखाई यह दोनों इस बातको कहे देते हैं, पंचमविभावना विरुद्धसे काज होना रुखाईसे चिकनाई प्रगट है ॥ ७५ ॥

और सबै हरषी फिरैं, गावति भरी उछाह। तुही बहू बिलखी फिरै, क्यों देवरके ब्याह ॥ ७६ ॥

और सब प्रसन्न हुई फिरती हैं, उछाहभरी गाती हैं, हे बहू! देवरके व्याहमें तू क्यों दुःखी हुई फिरती है उल्लासालंकार ॥ ७६ ॥

नैन लगे तेहि लगनिसों, छुटे न छूटैं प्रान। काम न आवत एकहू, तेरेसौं कि सयान ॥ ७७ ॥

मेरे नेत्र उन प्रीतमसे लगेहैं जो प्राण जानेसे न छूटेंगे तेरेसों सयानोंसे एकभी सयान मेरे काम नहीं आता, अत्युक्तालंकार [ दोहा—अतिशय अर्थ प्रकाश जहँ, सो अत्युक्ति कहाय। प्राण गये छुटि है नहीं, नैना यों समुझाय ॥ ) ॥ ७७ ॥

तू मत मानै मुकुई, किये कपटवत कोटि। जो गुनही तो राखिये, आँखनि माहिं अगोटि ॥ ७८ ॥

लोगोंके कपटसे कोटि बातें करनेपरभी तू अपने चाहतेसे वियोग मत माने जो नायक तुम्हारा अपराधी है तो आंखोंमें नजर बंद कररख. तात्पर्य यह है कि, प्रीतमको मानका रूप भला लगता है सो जानके रुठावे है। गुणही

अपराधी सम्भावना अथवा करोड कपट बल करनेपरभी अच्छेकी मत माने जो हृदयमें गुण है तो नेत्रोंमें भर रख । अर्थात् तू गुणी है तो छिपा तो सही ॥ ७८ ॥

धन यह द्वैज जहां लख्यो, तजो दृगनि दुखद्वंद । तुव भागनि पूरव उयो, अहो अपूरव चंद ॥ ७९ ॥

धन्य यह दोयज है जहां देखा गया है और नेत्रोंने दुःखद्वंद त्याग दिया अहो कृष्ण यह अपूर्व चंद्रमा तुम्हारे भाग्यसेभी पूर्वमें उदय हुआ है प्यारीका मुख जो चन्द्रवत् कहाहै वही अपूर्व है पूर्णचंद्र पूर्वमें उदय होता है सो दोयजके दिनही उस पूर्णचंद्रमुखीका पूर्वमें दर्शन है यही अपूर्वता है पर्यायोक्ति ॥ ७९ ॥

एरी यह तेरी दई, क्योंहू प्रकृति न जाय । नेहभरे हिय राखिये, तू रूखिये लखाय ८०

हे नारायण ! अरी यह तेरी प्रकृति ( स्वभाव ) किसी प्रकार नहीं जाती, हृदयमें स्नेह ( प्रीतिरूप तेल ) भर रक्खा है तथापि तू रूखीही दीखती है, अतद्गुणालंकार [ दोहा-जहँ गुणकी संगति नहीं, कहत अतद्गुण ताय । हियमें नेह भरो तऊ, रूखी बाल लखाय ॥ ] ॥ ८० ॥

औरै गति औरै बचन, भयो बदन रँग और । द्योसक तैं पिय चित चढी, कहैं चढौं है त्यौर ॥ ८१ ॥

औरही प्रकारकी चाल, औरही प्रकारकी वाक्यरचना, औरही प्रकारका मुखका रंग होगया, दो एक दिनसे पियाके चित्तपर चढी है, यह तेरी चढी त्योरी कहे देती है, भेदकातिशयोक्ति ॥ ८१ ॥

रही फेर मुँह हेरि इत, हित समुहैं चित नारि । दीठ परत उठि पीठकी, पुलकै कहत पुकारि ॥ ८२ ॥

हे नारि ! इधरको देखकर तू मुँह फेररही है, परन्तु तेरा चित्त प्रेमके सन्मुख है, प्यारेकी दृष्टिसे पडतेही तेरी पीठपर जो रोमांच होगये हैं, वह इस बातको पुकारके कहते हैं अनुमान ॥ ८२ ॥

वे ठाढे उमडात उत, जल न बुझै वड, वागि । जाहीसों लागो हियो, ताहीके उर लागि ॥ ८३ ॥

प्यारेको देख प्रिया सखीसे लिपटी उसपर कहते हैं वे इधर खडे हुए उमडते हैं उधर वडवाग्नि ( समुद्रकी आग ) जलसे नहीं बुझती जिससे तेरा मन लगा है उसीके हृदयसे लग तो यह तेरी कामाग्नि बुझेगी. स्वभावोक्ति ॥८३॥

लाज गर्व आरस उमँग, भरे नैन मुसकात । राति रमी रति देति कहि, औरै प्रभा प्रभात ॥ ८४ ॥

लाज, गर्व और आलस्य उमंगसे भरीहुई तेरी आँख झुककाती हैं, यह प्रभातसमयकी औरही प्रभा (कान्ति) कहे देती है रातके रमनेकी छिपी हुई रति क्रीडा, भेदकातिशयोक्ति ॥ ८४ ॥

नटन शीश साबित भई, लुटी सुखनकी मोट।
चुप करिये चारी करति, सारी परी सरोट॥८५॥

हे सखी! अब तू झुकरे मत, यह बातकी तैंने सुखकी मोट लूटी है तेरे शिर साबित है, यह सारीकी पड़ी सब बटैंहीं चुपकी चुपकी तेरी चुगली खाती हैं काव्यलिंग ॥ ८५ ॥

मोसों मिलवति चातुरी, तू नहिं मानति भेद।
कहदेत यह प्रगटही, प्रगट्यो पुस प्रस्वेद ८६

मुझसे चतुराई मिलाती है और अपनी बातोंमेंसे भेद दूर नहीं करती पूसके महीनेमें निकला हुआ यह पसीनाही इस बातको प्रगट किये देता है। प्रथम विभावना॥८६॥

सही रँगीले रतिजगे, जगी पगी सुखचैन।
अलसौहैं सौहैं किये, कहैं हँसौहे नैन ॥८७॥

यह सत्य है कि, रँगीले रात तेरे संग जागे और सुखचैनमें पगकर तूभी जगी, आलस भरी हँसौंही तेरी आंखें मुझसे सौगंध करके कहे देती हैं। एकके जागनेसे दोनोंका जागना होताही है फिर दोनोंका पृथक् कहनेका

कारण यह कि, प्रीतम रँगभरेका जागना सहज समझा परन्तु तेरे जागनेसे उसका रतिपूर्वक जागना जाना। अनुमान ॥ ८७ ॥

औरै ओप कनीनकन, गनी धनी शिरताज। मनी धनीके नेहकी, बनी छनी पटलाज ८८

तेरी आँखोंके कनीनकाओंके तारेकी औरही चमक है इस कारण मैंने तुझे ( धनी ) बहुतोंकी शिरताज ( गनी ) गिनी अर्थात् जाना तू पियाके प्रेमकी मणि बनी है तू लाजमें छिपाती है सो यह लाजरूपी पटमें छन निकली है अर्थात् जैसे निर्मल माणिकी कांति वस्त्रमें छनकर निकलती है तैसे छिपानेसे तेरा नेह नहीं छिप सकता। भेदकाति० ॥ ८८ ॥

यह वसंत नखरीं गरम, अरी न शीतल बात। कह क्यों प्रगटे देखियत, पुलकि पसीजे गात ॥ ८९ ॥

अरी! यह वसन्तऋतु है, इसमें न बहुत गरम और न बहुत ठंढी पवन है परन्तु यह तो कह कि, तेरे अंगमें पसीजे हुए रोमांच क्यों दीखतेहैं। प्रथम विभावना ॥ ८९ ॥

मेरे बूझे बात तूं, कत बहरावति बाल। जगजानी बिपरीतरति, लखि बिंदुली पियभाल ॥ ९० ॥

हे बाले ! मेरे बूझनेसे क्यों बात बहराती है, प्रीतमके माथे पर बिन्दी देखकर तेरी विपरीत रति सबने जानली। अनुमान ॥ ९० ॥

छुदुति दुराई दुरति नहिं, प्रगट कराति रतिरूप।
छुटे पीक औरै उठी, लाली ओठ अनूप ९१

हे सुदुति ! सुन्दर दांतवाली तेरी अच्छी शोभा छिपाई नहीं छिपती, कामकेलिका रूप प्रगट करती है, पीक छुटके होठमें और भी नई लाली खुली कि, जिसकी उपमा नहीं है, पीक छुटनेका कारण यह कि, सब रंग प्रीतमके अधरोंने ले लिया है, और उसके दुरानेका कारण यह कि, यह स्त्री परकीया है, इस कारण स्वामी आनकर पूछे कि, पान कहां खाया । तब उत्तर न बनेगा। भेदकातिशयोक्ति ॥ ९१ ॥

रँगी सुरतिरँग पियहिये, लगी जगी सब राति।
पैंड पैंडपर ठठकिकै, ऐंडभरी ऐंडाति ॥९२॥

कामकेलिमें रँगकर पियाकी छातीसे लग यह सारी रात जागी है, इससे पग पग पर खड़ी होकर गर्वभरी ऐंडाती है स्वभावोक्ति ॥ ९२ ॥

तरचन कनक कपोल दुति, बिचही बीच बिकान। लाल लाल चमकति चुनीं, चौका चिह्न समान ॥ ९३ ॥

जडाऊ सोनेकी बनी ढेरीका सोना कपोलकी कांति-हीमें मिलगया लाल लाल चुन्नी दाँतके चौकेके समान चमकती है पूर्णोपमा ॥ ९३ ॥

पटको ढिग कत ढाँपियत, शोभित सुभग सुभेष । हद रद छद छबि देखियत, सद रद छदकी रेष ॥ ९४ ॥

इसे घूंघटपटके निकट क्यों ढकती हो, यह तो सुन्दर-रस स्वरूपसे शोभा देती है सुरतके दांतोंके घावकी लकीर हदभर होठोंकी शोभामें दिखाई देती है । बिभा-वना और वृत्त्यनुप्रास ॥ ९४ ॥

कहि पठई मनभावती, पिय आवनकी बात । फूली आँगनमें फिरै, आँगन आँग समात९५

जिस समय प्यारेने प्यारीके मनकी चाही अपने आ-नेकी बात कहकर भेजी उससे प्रसन्न हो आँगनमें फिरने लगी शरीरमें शरीर नहीं समाता ॥ लोकोक्ति ॥ ९५ ॥

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि फिरि लेति उसास । साँई सिरकच सेतलौं, बीत्यो चुनत कपास ॥ ९६ ॥

बारबार अनमनी हो देखती है, और बार २ ऊँची सांस लेती है, स्वामीके शिरके श्वेतबालोंके समान बीती हुई कपास चुनती है, अनुशयना अपने क्रीडाके स्थान

कपासके खेत नष्ट होनेपर शोच करतीहै, अथवा कपासके खेतमें संकेत स्थान था उसके नष्ट होनेसे दुःख हुआ पूर्णोपमा दृष्टान्तालंकार ॥ ९६ ॥

सन सूख्यो बीत्यो बनो, ऊखौ लई उखारि । अरी हरी अरहर अजों, धर धर हर हिय नारि ॥ ९७ ॥

सन सूखगई कपासका बन बीत गया, गन्ने उखाड लिये हे आली ! अभी अरहर हरी है, मनमें धीरज रख, आशय यह कि, तू इन वस्तुओंके निबट जानेसे अभी शोच मत करे यह अरहरका खेत अभी अच्छा संकेत स्थान है, वीप्सा छेकानुप्रास "हरी २ वीप्सा" ॥ ९७ ॥

सतर भौंह रूखे बचन, करति कठिन मन नीठि । कहा करौं ह्वै जाति हरि, हेरि हँसोही दीठि ॥ ९८ ॥

सखीने प्यारीसे मान करनेको कहा तब उसने कहा आली टेढी भौंहें कर रूखे वचन कहतीहूं और नीठ ( कठिनाई ) कर कडा मन भी करा परन्तु क्या करूं कृष्णके देखतेही मेरी दृष्टि हँसौही होजाती है । तृतीय विभावना ॥ ९८ ॥

तुहूं कहति हौं आपहू, समझति बहुत सयान । लखि मोहन जो मन रहै, तौ मन राखौं मान ॥ ९९ ॥

तू भी कहती है और आपभी मैं बहुत चतुराई समझूं हूं परन्तु मोहनको देखकर जो मन मेरे पास रहै; तो मनमें मान रखसकूं आशय यह कि, उन्हें देखतेही मन हाथसे निकल जाय है फिर मान कहांसे होय। विशेषोक्ति सम्भावना ॥ ९९ ॥

दहैं निगोडे नैन यह, गहैं न चेत अचेत। हौं कसिकै रिस को करौं, यह निरखे हँसि देत ॥ १०० ॥

हे सखी! यह मेरी निगोडी आँखें जरैं ऐसी अचेत हैं कि, चेत पकडतीही नहीं मैं दृढ कर मानको करतीहूं परन्तु यह कृष्णको देखतेही हँस देते हैं। विभावना। हँसनेसे रिस नहीं रहती ॥ १०० ॥

इति कविवर विहारीलालकी सतसईमें पंडित ज्वालाप्रसादमिश्रकृत भावप्रकाशिकाटीकासहित प्रथम शतक पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

---

मोहिं लजावत निलज यह, हुलसि मिलैं सबगात। भानु उदयकी ओसलौं मान न जान्यो जात ॥ १०१ ॥

यह निर्लज्ज नेत्र मुझे लजाते हैं और आप प्रसन्न हो प्यारके सब शरीरसे मिले हैं जैसे सूर्य उदय होनेपर

ओस गई नहीं जानी जाती । इसी प्रकार उनके दर्शनसे मान गया हुआ नहीं जाना जाता । पूर्णोपमा ॥ १०१॥

खिचे मान अपराधते, चलिगे बढे अचैन । जुरत दीठि तजि रिसखिसी, हँसे दुहुनके नैन ॥ १०२ ॥

हे सखी ! पहले तो प्यारीके मानसे प्यारेके अपराध करनेके कारण नेत्र रुके, पीछे परस्पर न देखनेके (अचैन) दुःखसे चलायमान होगये, हे सखी ! दृष्टिके जुरतेही रिस त्याग दोनोंके नेत्र हँसपडे । प्रहर्ष अलंकार ( दोहा-काज सफल यहँ यत्न बिन, कहत प्रहर्षण ताहि । यत्न बिन प्यारी मनी, ह्वै प्रसन्न चितचाहि ॥ ) ॥ १०२ ॥

रात दिवस हौंसे रहैं, मान न टिक ठहराय ॥ जेतो अवगुण ढूँढिये, गुणौ हाथ परि जाय ॥ १०३ ॥

हे सखी ! हमें रात दिन इसी बातकी हौंस रहे है कि, प्यारेसे मान कराकर देखैं परन्तु मान ठीक नहीं ठहरता प्यारेका जितना अवगुण ढूँढती हूं उतना गुणही हाथमें पडजाता है । विशेषोक्ति ॥ १०३ ॥

जौलों लखौं न कुलकथा, तौलों ठिक ठहराय । देखे आवत देखनो, क्योंहूं रह्यो न जाय १०४

हे सखी ! जबतक घनश्यामको नहीं देखती तबहीतक

कुलकानकी कथा ठीक ठहरती है, उन्हें देखनेसे तो मनमें देखनाही आता है किसी प्रकारभी रहा नहीं जाता। संभावना ॥ १०४ ॥

कपट सतर भौंहैं करी, मुख सतरौंहैं बैन। सहज हँसौ हैं जानकर, सौंहे करति न नैन ॥ १०५ ॥

हे सखी ! हमारे कहनेसे प्यारीने मान किया सो तुम देखो कपटसे टेढी भौंहैं करी मुखसे क्रोधभरी बातें कहीं परन्तु स्वभावसे हँसनेवाली जानकर प्यारेके सन्मुख अपनी आँखोंको नहीं करती। छेकानुप्रासयमकालंकार॥ १०५॥

नाहिं नचाय चितवति दृगनि, नाहिं बोलति मुसकाय। ज्यों २ रुख रूखो करति, त्यों २ चित चिकनाय ॥ १०६ ॥

आखोंको नचाकर नहीं देखती, मुसकाकर नहीं बोलती, ज्यों २ रुख रूखा करती है त्यों २ चित्त चिकना होता जाता है। विभावना ॥ १०६ ॥

तोहीको छुट मानगो, देखतही ब्रजराज। रही घरिकलौं मानसी, मान कियेकी लाज १०७

श्रीकृष्णके देखतेही तेरे मनका मान तो छुटके गया परन्तु मान कियेकी लाजसे एक घडीतक तो तू मानको

माने रही घडी एक मानकी सीमा न शोभा स्थित रही करमाल ॥ १०७ ॥

क्रियो जु चिबुक उठाय करि, कंपत कर भरतार । टेढी यह टेढी फिराति, टेढे तिलक लिलार ॥ १०८ ॥

ठोढी उठाकर जो कंपित हाथसे भर्त्ताने प्रियाके माथे· पर तिलक किया, तो उस माथेके टेढे तिलकसे यह टेढी हुई फिरती है कि, मुझसे अधिक कोई सुन्दर नहीं, प्या· रीको देख जो सात्त्विकभाव आ इससे हाथ कांपनेसे टेढा तिलक हुआ । पंचम बिभावना ॥ १०८ ॥

तुम सौतिन देखत दई, अपने हियते लाल । फिरति सबनमें डहडही, उहै मरगजी माल ॥ १०९ ॥

सखी वचन है प्यारे ! सौतोंके देखते जो तुमने अपने हृदयकी माला उसे दी तबसे वह उस मुरझाई हुई मा· लाको लिये सबमें डहडही ( हरिभरी ) फिरती है । पंचम विभावना ॥ १०९ ॥

क्षणक उघारति क्षण छुवति, राखति क्षणक छिपाय । सब दिन पिय खंडित अधर, दर्पण देखत जाय ॥ ११० ॥

क्षणमें उघारती क्षणमें छूती और क्षणमें छिपा रखती है सब दिन प्यारेके खंडित अधर दर्पणमें देखती जाती है। जाति अलंकार लाटानुप्रास ॥ ११० ॥

छला छबीले छैलको नवल नेह लहि नारि। चूमति चाहति लाय उर, पहरति धरति उतारि ॥ १११ ॥

प्यारी स्त्री छबीले लालके नये नेहमें उसके दिये छल्लेको पाकर चूमती है हृदय लगाय देखती है पहरती है उतार धरती है। प्रेमजातकालंकार परकीया प्रेमगर्विता वर्णन हुआ ॥ १११ ॥

स्वकीया रूपगर्वितावर्णन।

दुसह सौति शालय जु हिय, गनति न नाह विवाह। धरे रूप गुणको गरब, फिरै अछेह उछाह ॥ ११२ ॥

हे सखी! सौतनोंका दुस्सह खटका सबके मनमें होताहै परन्तु यह नायकके विवाहको कुछ नहीं गिनती, अपने रूप और गुणका गर्व धारण किये अनन्त आनंदसे फिरती है, अर्थात् इसने समझ रक्खा है कि आजतक तो यह मेरी परख नहीं जानते थे, अब दूसरीके आनेसे जब वे बातें उसमें न देखेंगे तब मुझे अधिक जानेंगे। पंचम विभावना ॥ ११२ ॥

सुघर सौतिवश पिय सुनत, दुलहिन दुगुण हुलास । लखी सखी तनु दीठिकर, सगरब सजल सहास ॥ ११३ ॥

हे सखी ! प्यारेको चतुर सौतिके वश सुनकर दुलहिनको दूना हुलास हुआ, इस कारण गर्व लाज और हासके सहित सखीकी ओर दृष्टि करके देखा, आशय यह कि, एक तो अपना रूप गुण अधिक जानती थी, दूसरे यह कि, जो सुन्दरके बशी हुए हैं तो मैं भी सुन्दर हूं मेरे वशमें होंगे वह चार दिनकी आई क्या चतुराई करसके है, इस कारण उसे तुच्छ जान अपनी सखीको देखा । विभावना ॥ ११३ ॥

हँसि ओठनि बिच कर उचै, किये निचौहैं नैन । खरे अरे पियके प्रिया, लगी बिरी मुख दैन ॥ ११४ ॥

होठोंहीके बीच हँसकर हाथ ऊँचा कर निचोहे नैन किये प्यारेके अधिक हठ करनेसे प्यारी मुखमें बीरी देने लगी कोई बीरीका अर्थ रंगनेकी बीरी करते हैं । जाति-अलंकार ॥ ११४ ॥

बिथुऱ्यो जावक सौतिपग, निरख हँसी गहि गास । सलज हँसौंहीं लखि लियो, आधी हँसी उसास ॥ ११५ ॥

सौतिके पगमें जावक (महावर) बिखरा देखकर ईर्षासे वह हँसी. लाजसे सौतको हँसती हुई देखकर आधी हँसीमें प्रियाने ठंढी श्वास ली, अर्थात् पहले तो उसे मूर्खही जाना कि इसको महावरतक लगाना नहीं आता, पीछे उसे हँसता देखकर जाना कि, यह प्रीतमने लगाया है उसके हाथ काँपनेसे यह फैल गया है। तृतीय विषमालंकार (इष्टसे अनिष्ट माना)॥११५॥

छला परोसिनि हाथते, छलकर लियो पिछानि। पियहि दिखायो लखि बिलखि, रिस सूचक मुसकानि॥ ११६॥

प्यारेका छल्ला पहँचानकर पडोसनके हाथसे छलकरके लेलिया बिलखकर प्रीतमको दिखाया और क्रोधसूचक मुसकानसे दुःखी हुई। पर्यायोक्ति अलंकार॥ ११६॥

बिलखी लखै खरी खरी, भरी अनख बैराग। मृगनैनी सैनन भजै, लखि बेणीके दाग ११७

अनमनी हो खडी हुई बहुत क्रोध और उदासीसे देखने लगी, मृगलोचनी प्यारी प्यारेकी सेजमें और स्त्रीकी चोटीका चिह्न देखकर सेजपर जानेकी इच्छा नहीं करती। काव्यलिंग॥ ११७॥

ढीठ परोसिन ईठ है, कहे जु गहे सयान। सबै सँदेशो कहि कह्यो, मुसकाहटमें मान॥ ११८॥

ढीठ परोसिनने चतुराई पकडकर ढठतासे प्यारेके सब संदेश कहकर कहा मुसकाहटमें मान न चाहिये, आशय यह कि, पडोसिनके संग कुछ प्यारेने मुसकान की सो प्यारीने देख लिया, मानकर बेठी तब वही परोसन प्यारेकी ओरसे समझाने आई, यही उसकी दृढ ढिठाई है, और हितकारी बनकर प्रीतमके निरपराध होनेके संदेश चतुराईसे सुनाकर कहा मुस्कुराहटमें मान नहीं चाहिये यदि रतिका चिह्न हो तो मान चाहिये [ काकोक्ति] काव्यलिंग सूक्ष्मालंकार ॥ ११८ ॥

परकीया अन्यसंभोग दुःखिता ।

गह्यो अबोलो बोलप्यो, आपै पठै बसीठ । डीठ चुराई दुहुँनकी, लखि सकुचोंही डीठ ॥ ११९ ॥

सखीको प्यारेके बुलानेको भेजकर प्रिया आप मौन गहे रही, उनकी दोनोंकी सकुचौंहीं दृष्टि देखकर अपनी दृष्टी चुराई । अन्यसंभोगदुःखिता प्रियाकी सखीका वचन सखीसे । अभिता अलंकार ॥ ११९ ॥

हठ हितकर प्रीतम लियो, कियो जु सौति शृंगार ॥ अपने कर मोतिन गह्यो, भयो हरा हरहार ॥ १२० ॥

हठ और प्रीतिकरके जो प्यारेने हार लिया उससे सौतिनका शृंगार किया, अपने हाथके मोतियोंका गुँथा

हार सौतिनके गलेमें देख वह हार महादेवजीके हार ( सर्पहार ) सा हुआ । व्याघातालंकार [ दोहा-सुखद दुखद होजाय जो, सो कहिये व्याघात । अपनो गूँथो हार भो, दुखद महा अनखात ॥ ] ॥ १२० ॥

सुरँग महावर सौतिपग, निरख रही अनखाय । पिय अँगुरिन लाली लखे, खरी उठी लगि जाय ॥ १२१ ॥

सुंदर अथवा लालरंग महावर सौतिके पांयमें देख प्यारी महा क्रोधकर स्थित हुई, कारण कि,जो यह मुझे भावे है तो प्रीतमकोभी भावैगी, परन्तु जब प्रीतमकी अँगुलियोंमें महावरकी लाली देखी तब तो अधिक आग लग उठी । अनुगुण अलंकार ॥ १२१ ॥

स्वकीया स्वाधीनपतिका वर्णन ।

रहो गुणी वेणी लखे, गुहिवेको त्यों नार । लागे नीर चुचावने, नीठ सुखाये बार ॥ १२२ ॥

रहनेदो तुमने चोटी गूँथदी और तुम्हारे गूँथनेकी चतुराई भी देखली, जो बाल हमने निचोडकर सुखाये थे वह पानीसे चुचाने लगे आशय यह कि, दोनोंको स्पर्शसे सात्त्विक हुआ । परिवृत्तालंकार [ दोहा--परिवृत कीजे और कछु, और कछू बनजाय । गुहिवेको कारज लग्यो, करते नीर चुचाय ) ॥ १२२ ॥

प्रिय प्राणनिकी पाहरू,यत्न करति नित आप। जाकी दुसह दशा भये, सौतिनहू संताप ॥ १२३ ॥

यह अपने प्रीतमके प्राणोंकी पाहरू है इस कारण इसके प्रिय स्वयं सदा इसका यत्न करते हैं, जिसकी दुस्सह दशा देखकर सौतोंकोभी दुःख हुआ आशय यह कि, इसके प्राण जायगे तो प्यारेका भी मरण होगा। संबन्धातिशयोक्ति ॥ १२३ ॥

टुनिहाई सब टोलमें, रही जु सौति कहाय। सुतौ ऐंच पिय आपत्यौं,करी अदोषिल आय ॥ १२४ ॥

जो टोना करनेवाली सब सखियोंके समूहमें तेरी सौति बाजरही थी, सो तैंने नायकको वशकर वह सौत बेछूत करदी लेखालंकार, जो सौतोंका वशीभूत करना कर्म दोषमय था टोनाके पदसे वह गुण हुआ, जैसे दुष्ट कहेरी भूतकी छूत दूर करै तैसे इसने सौतसे दूर कर निज वश किया ॥ १२४ ॥

स्वकीया प्रोषितपतिका।

रह्यो ऐंच अन्त न लह्यो, अवधि दुशासनवीर। आली बाढत बिरह ज्यों, पंचालीको चीर ॥ १२५ ॥

खैंचरहा है परन्तु अवधिरूप दुःशासनवीरने उसका अन्त न पाया, हे सखी! द्रौपदीके चीरके समान मेरा विरह बढता जाताहै। पूर्णोपमा ॥ १२५ ॥

हिय औरैसी होगई, टरे अवधिके नाम। दूजे करि डारी खरी, बौरी बौरे आम ॥ १२६ ॥

अवधिके नाम टलनेसे प्यारी मनमें औरहीसी होगई और दूसरे बौरे अर्थात् मौले हुए आमने तो उसे बावलीही करडाला॥ भेदकातिशयोक्ति॥ १२६॥

छप्यो नेह कागज हिय, भई लखाइ न टांक। बिरहतचे उघर्‌यो सुअब, सेहुंडको-सो आंक ॥ १२७ ॥

जो कागजरूपी प्रीति निर्मल मनमें छिपी थी और थोडी भी प्रसिद्ध न हुई सो अब थूहरके दूधके लिखे अक्षरतौ विरहकी आगसे सिककर खुली। पूर्णोपमा थूहर-के दूधके लिखे अक्षर आगपर सेकनेसे चमकते हैं॥ १२७

चित तरसत मिलत न बनत, बस परोस-के बास। छाती फाटत जात सुनि, टाटी ओट उसास ॥ १२८॥

मन तरसता है परन्तु पडौसके घरमेंभी रहकर मि-लना नहीं बनता। टट्टीकी ओटमें लम्बी साँस सुनकर

छाती फटी जाती है नायकका वचन सखीसे । विशेषोक्ति छेकानुप्रास ॥ १२८ ॥

रहि हैं चंचल प्राण यह, कहि कौनकी अगोट । ललन चलनकी चित धरी, कलन पलनकी ओट ॥ १२९ ॥

सखी अब यह मेरे चंचल प्राण किसके रोकनेसे रहेंगे, प्यारेने तो चलनेकी चित्तमें धरी है और मुझे उनके पलक ओट होनेसे कल नहीं पडती है, मरणाक्षेपकाकोक्ति १२९

अजौं न आये सहज रँग, विरह दूबरे गात । अबहीं कहा चलाइत, ललन चलनकी बात ॥ १३० ॥

जो सहजके रंगथे वह विरहके दुबले शरीरमें अभीतक नहीं आये. फिर हे कृष्ण ! अभीसे क्या चलनेकी बात चलाते हो अधैर्याक्षेपालंकार ॥ १३० ॥

पूसमास सुनि सखिनिपै, साईं चलत सबार । गहिकर बीण प्रवीण तिय, रच्यो राग मलार ॥ १३१ ॥

पूसके महीने सखियोंसे यह वचन सुनकर कि, प्यारे प्रातःकाल विदेशको जांयगे, वीणा हाथमें ले नागरीने राग मलार अलापा, आशय यह कि, पूस महीनेके मेघसे अकाल वृष्टि होनेसे यात्रा उचित नहीं । उपायाक्षेपालंकार १३१

ललन चलन सुनि पलनमें, अँसुआ झलके आय। भई लखायन सखिन हूं, झूंठेही जमुहाय ॥ १३२ ॥

प्यारेका गमन सुनतेही पलकोंमें आँसू आ झलके सखियोंकोभी विदित न हुआ कारण कि, झूठेही जँभाई लेनेलगी ॥ व्याजोक्ति ॥ १३२ ॥

चलत चलतलौं ले चले, सब सुख संग लगाय। ग्रीषमवासर शिशिर निशि, पिय मोपास बसाय ॥ १३३ ॥

चलते २ प्यारे हमारे सब सुख अपने साथ ले चले केवल गरमीके दिन और शिशिर ऋतुकी रात हमारे साथको बसा चले, अथवा ग्रीष्मके दिनके समान शिशिरकी रात हमारे निकट छोड चले। लुप्तोत्प्रेक्षालंकार ॥ १३३ ॥

बिलखी डबकौहैं चखन, तिय लखि गमन बराय। पिय गहबर आयो गरो, राखी गरे लगाय ॥ १३४ ॥

प्यारेके जानेमें व्याकुल हो जब आँखें डबडबाने लगी तब यह देख प्रीतमने अपना जाना टालदिया, और गला भरि आया प्यारीको गलेसे लगा रक्खा। तादानुरास अलंकार ॥ १३४ ॥

वामा भामा कामिनी, कहि बोला प्रा-णेश। प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत विदेश ॥ १२५ ॥

हे प्राणपति! आप मुझे वामा भामा कामिनी इन साधारण नामोंसे पुकारो, प्यारी कहते लजाते नहीं जो वर्षाकालमें मुझे छोड विदेश जाते हो। विचित्रालंकार ॥ १२५॥

मिलि चलि चलि मिलि मिलि चलत, आँगन अथयो भान। भयो मुहूरत भोरतैं, पौरी प्रथम मिलान ॥ १२६॥

मिलकर चलते चलकर मिलते फिर हाथ पकड चलते इस प्रकार आँगनसे मध्यहीमें सूर्य अस्त होगया दो घडी प्रातःकालके मुहूर्तसे ड्योढीमेंही प्रथम प्रस्थान (डेरा) हुआ लाटानुप्रास ॥ १२६ ॥

चाहभरी अति रिसभरी, विरहभरी सब बात। कोरि संदेशे दुहुनके, चले पौरिलों जात १२७

चाहभरी क्रोधभरी और रिसभरी सब बातें हैं घरसे ड्योढीतक जानेमें दोनोंके करोड संदेशे चले। लाटानुप्रास अलंकार ॥ १२७ ॥

नये विरह बढती विथा, भई बिकल जिय बाल। बिलखी देख परोसिन्यों, हरपि हँसी तिहिकाल ॥ १२८ ॥

नये विहरकी बढती पीडासे बाल मनमें बहुत व्याकुल हुई और परोसिनको व्याकुल हुई देखकर उसी समय हँस पडी आशय यह कि, अपने प्रीतमके गमनमें सौतको दुःखी देख हँसी। अनुमानालंकार ॥ १३८ ॥

चलत देत आभार सुनि, वही परोसिनि नाह। लसी तमासेके दृगन, हांसी आँसुनि माँह ॥ १३९ ॥

प्रवत्स्यतपातिका और मुदिता, चलते समय उसी परोसिनके पतिको घरका भार सौंपता सुनकर आंसूभरे चंचल नयनोंमें हँसी शोभायमान हुई। प्रहर्षणा और पर्यायालंकार ॥ १३९ ॥

भये बटाऊ नेह तजि, बादि बकति बेकाज। अब अलि देत उराहनो, उर उपजति अतिलाज ॥ १४० ॥

हे सखी! यह तो प्रीति छोडकर बटोही पथिक होगये तू विना काज क्यों बकती है हे सखी! अब तो उराहना देते मनमें बहुत लाज उपजती है आशय यह कि, स्नेहत्यागी और बटाऊको उराहने देनेमें लाज आती है। काव्यलिंग आक्षेपालंकार ॥ १४० ॥

स्वकीया आगमलक्षितावर्णन।

मृगनयनी दृगकी फरक, उर उछाह तनु

फूल। बिनही पिय आगम उमँगि, पलटन लगी दुकूल ॥ १४१ ॥

मृगलोचनीकी बाईं आँख फडकतेही उछाहसे शरीर फूल गया, और बिनाही प्रीतमके आगमनके प्रसन्नतासे अपना ओढना बदलने लगी अर्थात् नया पहरने लगी। अनुमान ॥ १४१ ॥

बाम बाहु फरकत मिलैं, जो हरि जीवन मूरि। तौ तोहीसों भेंटिहों, राखि दाहिनी दूरि ॥ १४२ ॥

हे बाईं भुजा! तेरे फडकनेसे जो मेरे जीवनमूल कृष्ण मिलजांय तो दाहिनी भुजाको दूर रखकर तुझहीसे आलिंगन करूंगी। संभावना जोयों आदिपदसे ॥ १४२ ॥

मलिन देह वेई बसन, मलिन बिरहके रूप। पिय आगम औरै बढी, आनन ओप अनूप ॥ १४३ ॥

मैली देह और वेई मलीन वस्त्र बिरहके रूपमें है परन्तु प्रीतमके आगमनसे मुखपर अनूप ज्योति बढी। भेदकातिशयोक्ति ॥ १४३ ॥

कियो सयानी सखिनसों, नहिं सयान यह भूल। दुरै दुराई फूललों, क्यों पिय आगम फूल ॥ १४४ ॥

हे आली! तैंने जो सखियोंसे यह चतुराई की सो यह तेरी भूल है, प्यारेकी आगमनकी प्रफुल्लता फूलकी सुगंधिके समान छिपाये नहीं छिपती। पूर्णोपमा ॥ १४४॥

रहे बरोठेमें मिलत, पिय-प्राणनके ईश। आवत आवतकी भई, बिधिकी घरी घरीश ॥ १४५॥

द्वारके बाहर जो प्राणनाथ स्नेही जनोंसे मिलने लगे तो यह आते आतेकी घड़ी प्यारीको ब्रह्माकी घड़ीके समान हुई। धर्मवाचकलुप्तालंकार ॥ १४५ ॥

भेंटत बनत न भावतो, चित तरसत अतिप्यार। धरति उठाय लगाय उर, भूषण वसन हथ्यार॥ १४६ ॥

ससुरालमें प्यारेसे मिलना तो बनता नहीं और प्यारसे चित्त तरसता है, इस कारण उनके भूषण वसन हथियार उठाकर हृदयसे लगाय रखती है। प्रेमालंकार [ दोहा–कपट जहां नहिं होय कछु, प्रीति होय भरपूरि ॥ सो प्रेमालंकारहै, मानत हैं यह सूरि ॥ १४६ ॥

बिछुरे जिये संकोच यह, मुखते कहत न बैन। दोऊ दौरि लगे हिये, किये निचौहे नैन ॥ १४७ ॥

बिछुरनेमें जीते रहे, यह बडा संकोच है मुखसे बैन

नहीं कहे जाते, अन्तमें नीचे नेत्र किये दोडके दोनों हृदयसे लिपटगये । काव्यलिंग ॥ १४७ ॥

ज्यों ज्यों पावक लपटसी, पिय हियसों लिपटाति । त्यों त्यों छुही गुलाबकी, छतियां अतिसिय राति ॥ १४८ ॥

प्रीतम परदेशसे आकर प्रियासे मिले इसपर सखीका वचन ज्यों ज्यों अग्निकी लपटसी चाहसे प्रीतमके हृदयसे लिपटती है, त्यों त्यों, गुलाबके छिडकनेकी भांति प्रीतमकी छाती बहुत ठंढी होती जाती है । विभावना पावकते सियरात ॥ १४८ ॥

आयो मीत विदेशते, काहू कह्यो पुकारि । सुनि हुलसी विहँसी हंसी, दोऊ दुहुंन निहारि ॥

यह मित्र विदेशसे आये ऐसा किसीने पुकार कर कहा, सुनकर प्रसन्न हुई हँसी, और मुस्कराये दोनों दोनोंको देखकर आशय यह कि, नायकाकी छाती हुलसी, और बत्तीसी विहँसी और आंखें हँसी, मित्रकी प्रीति छिपाये थी सो सखियें उस समय बैठी थीं इस कारण प्रगट न कहा उपरोक्त चिह्नोंसे प्रगट हुई ॥ १४९ ॥

अहे कहै न कहा कह्यो, तोसों नंदकिशोर । बडबोली कत होत है, बडे दृगनके जोर १५०

प्यारीके पास कृष्ण आये तब प्यारीने मान किया

पीछे कृष्णको बुलाने भेजा जब सखी आई तब उससे पूछती है अरी कह तो तुझसे नंदकिशोरने क्या कहा सखी बोली अरी आंखोंके बलसे बडबोली क्यों होती है, कृष्णको न्यून करके नंदकिशोर क्यों कहती है। उत्तरालंकार ॥ १५०

यदपि तेज रोहालयर, लगी न पलको बार। तउ ग्वैंडों घरको भयो, पैंडो कोश हजार ॥ १५१ ॥

यद्यपि पराक्रमसे प्रीतमका घोडा तेज चलनेवाला है और आतेमें एक पलभी देर न लगी तोभी गांवका मार्ग आते २ उत्कंठासे सहस्र कोशके समान होगया। विशेषोक्ति ॥ १५१ ॥

नभलाली चाली निशा, चटकाली धुनि कीन। रतिपाली आली अनत, आये वनमालीन ॥ १५२ ॥

आकाशमें लाली हुई, रात्रि चली, चिडिएँ और भौंरे बोले हे आली! प्रीति कहीं ओर स्थानमें पाली इससे वनमाली नहीं आये। वृत्त्यनुप्रास वासकसज्जा वर्णन १५२

झुकि झुकि झपकोहैं पलन, फिरि फिरि जुरि जमुहाय। जानि पियागम नींद मिस, दी सब सखी उठाय ॥ १५३ ॥

झुक २ के पलके झपकाने लगा बारंबार पेंडकर जंभाने लगी प्रीतमका आगमन जानकर नींदका मिसः कर सब सखी उठा दीं। पर्यायोक्ति ॥ १५३ ॥

ज्यों २ आवति निकट निशि, त्यों २ खरी उताल। झमकि २ टहलैं कर, लगी रहचटैं बाल ॥ १५४॥

ज्यों ज्यों रात्रि आती है तैसे २ बडी उतावलीसे सब टहल करती है कारण कि, मनोरथका चसका लगा हुआ है। स्वभावोक्ति। रहचट-सोनेकी चाट ॥ १५४॥

फूली फालै फूलसी, फिरति जो विमल विकास। भोर तरैयां होहि ते, चलत तोहि पिय पास ॥ १५५ ॥

जो कि (विमल विकास) उज्ज्वल ज्योतिसे तेरी सौतैं फूली हुई फूलसी फिरती हैं सो तुझे प्रीतमके पास चलते देखकर भोरके तारोंके समान क्षीणकान्ति होजायगी। उपमेय लुप्ता और वाचकलुप्ता ॥ १५५ ॥

उठि ठकु २ ए तो कहा, पावसके अनुसार। जानि परैगी देखियौ, दामिनि घन अँधियार ॥ १५६ ॥

उठ वर्षाके समय नायकके पास चलनेमें इतनी अक

चढ क्यों है, वहां ऐसी विदित होगी कि, मानो बिजली बादलको लिये अंधकारमें हैं। भ्रांतालंकार ॥ १५६ ॥

गोप अथाइनिते उठे, गोरज छाई गैल। चलि बलि अलि अभिसारिकै, भली सँजोखै सैल ॥ १५७ ॥

गोप चौबारोंसे उठे और गायके चरणोंसे उठकर धूलि पंथमें छाई है आली! मैं बलिहारी जाऊं प्रीतमके पास चल, हे सखी! अभिसारिकाकी संध्या समय भली सैल है। काव्यलिंग ॥ १५७ ॥

छप्यो छपाकर छितछयो, तम शशि हरन सँभारि। हँसति हँसति चल शशिमुखी, मुखतें आंचर टारि ॥ १५८ ॥

शुक्ला अभिसारिकाको बाटमें जाते चंद्रमा छिपा, इसपर सखी बोली, छपाकर (चंद्र) छिपा भूमिपर अंधकार छाया, तू सकुचाव्रे मत, अपनेको सँभालकर चन्द्रका अस्त सँभाल, हे चन्द्रमुखी! मुखपरसे घूँघटको हटाकर तू हँसती २ चल अर्थात् हँसनेसे मुखपरसे घूँघट हटनेसे चाँदनी होगी। काव्यलिंगअलंकार ॥ १५८ ॥

सघन कुंज घन घन तिमिर, अधिक अँधेरी राति। तऊ न दुरिहै श्याम यह, दीप शिखासी जाति ॥ १५९ ॥

घनाकुंज है बहुतसे मेघोंका अँधेरा है महाकाली अँधेरी रात है, हे कृष्ण ! तोभी यह बाला जाती हुई दीपशिखाके समान नही छिपैगी । विशेपोक्ति लुतोपमेयसंकर ॥१५९॥

युवति जोन्हमें मिलगई, नैक न होति लखाइ । सौंधेके डोरेलगी, अली चली सँग-जाइ ॥ १६० ॥

यह बाला चाँदनीमें मिलगई किंचित् भी नही दिखाई देती सुगंधकी डोरसे लगी सखी बालाके संग चली जाती है । उन्मीलितालंकार । सुगंधिसे ज्ञान हुआ गौरतासे नहीं ॥ १६० ॥

निशि अँधियारी नील पट, पहरि चली पिय गेह । कहो दुराई क्यों दुरै, दीपशिखासी देह ॥ १६१ ॥

अँधेरी रात है नीलपट पहर कर पियाके घर चली [ गर्विताबोली ] कहो इसपरभी यह दीपकी शिखासी देह छिपायेसे अबभी कैसे छिपैगी । विशेपोक्ति उत्तरालंकार ॥ १६१ ॥

अरी खरी सटपट परी, बिधु आधे मग हेरि । संगलगे मधुपन लई, भागि न गली अँधेरि ॥ १६२ ॥

हे सखी ! आधे मार्गमें चन्द्रमाको देखकर मुझे बहुत

व्याकुलता हुई भौंरोंके संग लगनेपर भाग्यहीसे अँधेरी गली पाई अर्थात् गली अँधेरीमें जाकर भौंरोंसे छुटी। प्रहर्षणालंकार [ दोहा–कार्यसिद्ध हो बिन यतन, मनमें हर्ष अपार। ताहि प्रहर्षण कवि कहे, गुणिघनको आधार] १६२

दंपतिदिवाभिसारवर्णन।

मिसही मिस आतप दुसह, दई और बहकाय। चले ललन मन भावतिहिं, तनुकी छाँह छिपाय॥ १६३॥

बहानेही बहाने कठिन धूप करदी औरोंको टालदिया प्रीतमप्यारीको शरीरकी छाँहमें छिपाकर लेचले, आशय यह कि, परकीया बाला है उसकी कांति छिपानेको वस्त्र उढाय ले चले। पर्यायोक्ति॥ १६३॥

दम्पतिनिशाभिसारवर्णन।

मिलि परछाहीं जोन्हसों, रहे दुहुँनके गात। हरि राधा इक संगही, चले गलीमें जात १६४

जैसे परछाईं चाँदनीमें मिलीहो, इस प्रकार प्रीतम और प्यारीके शरीर मिले हैं श्रीकृष्ण और राधिका इस प्रकार एक साथही मिले गलीमें चलेजाते हैं। मिलितालंकार॥ १६४॥

स्वकीया खण्डिता।

पलनि पीक अंजन अधर, धरे महावर

भाल। आज मिले सुभली करी, भले बनेहो लाल ॥ १६५ ॥

पलकोंमें पीक, होठोंमें अंजन, माथेपर महावर, लगाये हो आज मिले सो अच्छी करी, हे कृष्ण ! भले बनेहो धीराधीरा दूसरा। असंगति अलंकार ॥ १६५ ॥

मरकत भाजन सलिलगत, इन्दुकलाके वेश। झीन झगामें झलमलै, श्यामगात नख रेप ॥ १६६ ॥

नीलमणिका पात्र जैसे पानीमें पडाहो और उसमें चन्द्रमाकी कलाका प्रतिबिम्ब हो, इस प्रकार पतले झगे (जामे) में श्याम शरीरके बीच नखकी रेखा चमकती है। लुप्तवस्तूत्प्रेक्षा ॥ १६६ ॥

वैसी यह जानी परत, झगा ऊजरे मांहि। मृगनैनी लपटी जु हिय, वेणी उपरी बांहि १६७

यह उजरे जामेमें वैसीही जानी जाती है, मृगनैनी जो हृदयसे लिपटी सो उसकी चोटी बांहमें छपछ आई है। अनुमानालंकार ॥ १६७ ॥

कत बेकाज चलाइयत, चतुराईकी चाल। कहेदेत गुण रावरे, सब गुण निर्गुण माल १६८

बिना काम चतुराईकी रीति क्यों चलातेहो, यह बिना डोरेकी मालाही आपके सब गुण प्रगट किये देती है हृद-

यपर मालाका चिह्न जो पड़ा है सो रतिको प्रगट करता है। विरोधाभास ॥ १६८ ॥

तुरत सुरत कैसे दुरत, मुरत नैन जुरि नीठि। डोंड़ी दै गुन रावरे, कहै कनौड़ी डीठि ॥ १६९ ॥

हे प्रीतम! सुरतका मैथुन किस प्रकार छिपसकता है, दृष्टि मिलकर तुम्हारे नेत्र मुरते हैं, और कनौडी दृष्टिही यह तुम्हारे दोष ढंढोरा देकर कथन करता है। वृत्त्यनुप्रासलोकोक्ति ॥ १६९ ॥

पावकसों नैननि लग्यो, जावक लाग्यो भाल। मुकुर होहुगे नेकमें, मुकुर बिलोको लाल ॥ १७० ॥

आँखोंमें आगसी लगी है माथेमें जो महावर लगा है, थोड़ी देरमें मुकर जाओगे, इस कारण हे लाल! तनक दर्पणमें अपना मुख तो देखो। पूर्णोपमा यमकछेकानुप्रास ॥ १७० ॥

प्राणप्रिया हियमें बसै, नखरेखा शशि भाल। भलो दिखायो आन यह, हरिहररूप रसाल ॥ १७१ ॥

प्राणप्यारी तुम्हारे हृदयमें निवास करती है, जैसे विष्णुके हृदयमें लक्ष्मी, नखकी लकीर शिरपर है जैसे शि-

शके माथेपर चन्द्रमा, यह अपना रसाल शिव और विष्णुका भला रूप दिखाया । रूपकालंकार ॥ १७१ ॥

नखरेखा सोहै नई, अरु सोहै सब गात । सोहैं होत न नैन यह, तुम सौंहैं कत खात ॥ १७२ ॥

नवीन नखप्रहारकी रेखा शोभा पातीहै, सब शरीर आलस्य भरेहैं, और यह नेत्र सामने नहीं होते फिर तुम सौगन्ध क्यों खाते हो । जमकालंकार ॥ १७२ ॥

पल सोहैं पग पीकरँग, छल सोहैं सब बैन । बल सोहैं कत कीजियत, यह अलसोहैं नैन ॥ १७३ ॥

पीकके रंगसे पगी पलके शोभित होती हैं, और छलसे तुम्हारी सब बातें शोभित हैं, बलसे सन्मुख यह आलस्य भरी आँखें क्यों करते हो । वृत्त्यनुप्रास ॥ १७२ ॥

पटसों पोंछ परी करो, खरी भयानक वेषि । नागनि ह्वै लागति दृगनि, नागबेलि रंग रेषि ॥

वस्त्रसे पोंछकर दूर करो यह तुम्हारा बहुत भयानक वेष है, यह तुम्हारी आंखोंमें लगी हुई पानकी रेख मेरी आंखोंको सांपन होकर काटती है । लुप्तोत्प्रेक्षालंकार ॥ १७४ ॥

जिहि भामिनि भूषण रच्यो, चरण महाउर भाल । उही मनो अँखियां रँगीं, ओठनिके रँगलाल ॥ १७५ ॥

जिस प्रियाने शृंगार बनाय अपने पांवकी महावर तुम्हारे माथेमें लगाई, उसीने अपने होठोंके रंगसे मानों तुम्हारी आंखें रंगी हैं, आशय यह कि; उसने मान किया तुम पांव पडे इससे माथेमें महावर लगगया और रतिमें जागे इससे नेत्र लाल हैं। वस्तूत्प्रेक्षा असंगति ॥ १७५॥

गडे बडे छबि छाकि छाकि, छिगुनी छोर छुटै न। रहे सुरँग रँग रंगि उही, नहदी महदी नैन ॥ १७६ ॥

बडे छबिके नसेके छककर अर्थात् उसकी सुन्दरताके मदमें मतवारे होकर कन अंगुरीके छोर गडे छुटते नहीं उसी नखमें लगाई हुई महँदीसे नेत्र लाल रंगसे रँग रहे हैं नह-नखून। सुरंग-लाल। व्याजोक्ति ॥ १७६ ॥

वेई गडे गाडैं परी, उपडचो हार हिये न। आन्यो मोरि मतंग मनु, मार गुरेरनि मैन ॥ १७७ ॥

नायकके आगमनमें सखी वेई गढके गढे पडे हैं मोतियोंका हार छातीमें नहीं उमडा है, मानों कामदेव हाथीको गुलेलोंसे मारकर फेर लाया है उसके चिह्न हैं। असिद्धारूपदउत्प्रेक्षा। अथवा खण्डिता प्रीतमके हृदयपर परकीया विहारका हार चिह्न देख यह वचन बोली॥ १७७॥

ह्या न चलै बलि रावरी, चतुराईकी चाल।

सनख हिये क्षण क्षण नटत । अनख बढावत लाल ॥ १७८ ॥

हे लाल ! यहां आपकी चतुराई चाल नहीं चलेगी यह छातीपर नखके चिह्न लगे हुए छिपाकर मेरा क्रोध क्यों बढाते हो । विरोधाभास ॥ १७८ ॥

कत कहियत दुख देनको, रच रच वचन अलीक । सबै कहा उरहै लखै, लाल महाउर लीक ॥ १७९ ॥

हे प्रीतम ! झूठी बातैं बना २ कर दुःख देनेको क्यों कहते हो सब क्या तुम्हारा मन हैं, जो तुम्हारे माथेमें लगी महावरकी लीक देखेंगी इससे विदित है कि, मानिनीके पांव पड रति करके आये हो ॥ छेकानुप्रास अलंकार १७९॥

तरुण कोकनद वरुण वर, भये अरुण निशि जागि । वाहीके अनुराग दृग, रहे मनो अनुरागि ॥ १८० ॥

यह नेत्र रात्रिमें जागकर लाल कमलके रंगके समान रक्तवर्ण होगये हैं, मानो उसीके अनुरागमें रँग गये हैं उक्तास्पद ॥ १८० ॥

न कर न डर सब जग कहत, कत बेकाज लजात ॥ सोहैं कीजे नैन जो, सांचे सौहैं खात ॥ १८१ ॥

चिना करे मत डरो ऐसा सब जगत् कहता है, फिर तुम बेकाज क्यों लजाते हो, जो सच्चा सोगंध खाते हो तो नेत्र सन्मुख करो। जमक ॥ १८१ ॥

लालन लहि पाये दुरै, चोरी सौंह करै न।
शिश चढे पनिहा प्रगट, कहैं पुकारे नैन १८२

रात्रिको प्यारे और कहीं जागे इस पर प्यारी बोली है लाल! मैंने जानलिया सौगंध खायेसे तुम्हारी चोरी नहीं छपेगी शिरपर चढे चोरीकी पाग लगानेवाले तुम्हारे नेत्र इस बातको प्रगट कहते हैं आँखे लाल हैं। काव्यलिंग १८२

रह्यो चकित चहुँघा चितै, चित मेरो मति भूलि। सूर उदय आये रही, दृगनि साँझसी फूलि॥ १८३॥

मेरा मन मति भूलकर चारों ओर चकित होरहा सूर्यके उदयमें तुम आये हो परन्तु तुम्हारी आँखोंमें साँझसी फूलरही है, अर्थात् लाल हैं। तृतीय विभावना अमिलुताळंकार ॥ १८३ ॥

आप दियो मन फेरिलै, पलटै दीनी पीठि। कौन चाल यह रावरी, लाल लुकावत दीठि॥ १८४

तुमने जो आप मन दिया सो फेरकर उसके बदले मुझ पीठ दी. हे कृष्ण ? यह आपकी कौन रीति है जो अब दृष्टि छिपाते हो, विनिमया (बदला करना) लंकार १८४

मोहिं दियो मेरो भयो, रहत जु मिलि जिय साथ । सो मन बाँधन दीजिये, पिय सौतिनिके हाथ ॥ १८५ ॥

मन आपने मुझे दिया सो मेरा हुआ, मेरे जीके साथ मिलकर रहता है, हे प्रीतम ! यह मन बाँध कर सोतोंके हाथ न सौंपिये । काव्यलिंग ॥ १८५ ॥

मध्या धीरावर्णन ।

ललन सलोने अरु रहे, अति सनेहसों पागि । तनक कचाई देत दुख, सूरनलों मुखलागि ॥ १८६ ॥

हे कृष्ण ! एक तो आप सलोने हो और अतिसनेहसों पगे हो परन्तु तुम्हारी यह थोड़ी कचाई दुःख देती है जो आप झूंठ बोलते हो, अथवा जैसे सूरन ( जिमींकंद ) मुख लगके दुःख देता है तैसे तुम दुःख देते हो । पूर्णोपमाश्लेष ॥ १८६ ॥

आज कछू और भये, ठये नये ठिक ठैन । चितके हितके चुगल ये, नितके होय न नैन ॥ १८७ ॥

आज कुछ औरही नई ठीक ठाने हुए हैं, वा नवं उत्सवसे ठने कुछ औरही हैं परन्तु ठहरते नहीं हैं मनकी प्रीतिके चुगल यह तुम्हारे नयन सदाकेसे न होंय अर्थात्

आज तुम्हारे नेत्र चंचल हैं इससे तुम्हारा भेद जानलिया।
भेदकातिशयोक्ति वृत्त्यलंकार ॥ १८७ ॥

अनत बसे निशिकी रिसानि, उर बर रह्यो विशेषि। तऊ लाज आई झुकत, खरे लजौहै देषि ॥ १८८ ॥

रात्रिमें प्रीतम और स्थानमें बसे, इस कारण हृदय विशेष कर क्रोधसे भररहा है, तोभी प्यारेको लजाते हुए खडा देख कर प्रियाको लाज आई। पंचमविभावना १८८

फिरत जु अटकत कटनि बिन, रसिक सुरस न खिलाय। अनत अनत नित निताहि तनु, कत सकुचावत लाल ॥ १८९ ॥

हे रसिक ! जो रीझ विना उलझते फिरते हो सो रीझ नहीं खेल है, हे लाल ! और और स्थानोंसे प्रीतिको नित्य क्यों सकुचाते हो, अर्थात् इन बातोंमें लोक कहैंगे प्यारी प्यारेसे प्रीति नहीं करती इस कारण ठौर ठौर अटकते फिरते हैं। लोकोक्ति अलंकार ॥ १८९ ॥

कत सकुचत निधरक फिरो, रतियो खोरि तुम्हैं न। कहा करौं जो जा हिये, लगे लगोहे नैन ॥ १९० ॥

सकुचाते काहेको हो निधरक फिरो हो तुम्हें रत्तीभर दोष नहीं है, इसमें तुम्हारा क्या वश है जो यह लगोहे

नयन जा कर लग जाते हैं । व्याजस्तुति यथा [ दोहा मुखपर स्तुतिसी लगे, अरु खलु निन्दा होय । इमि वच-रचनाको कहैं, व्याजस्तुति सब कोय ] ॥ १९० ॥

तेह तरेर्‍यो त्यौरकरि, कत करियत दृग लोल । लीक नहीं यह पीककी, श्रुतिमणि झलक कपोल ॥ १९१ ॥

क्रोधसे डरावना मुखकर नेत्र क्यों चंचल करते हो यह लकीर पीककी नहीं जो तुम समझो कि और बालाने चुम्बन किया है प्रीतम जो कानमें कुण्डल पहरे हैं उसके रत्नकी लाल झलक गालपर है । व्याजोक्ति— और कुछ कहकर वस्तुको दुराना जैसे यहां पीक दुराई ॥ १९१॥

कत लपटैयत मो गरे, सौनजुही निशि सैन जिहि चंपकबरनी किये, गुल्लाला रंग नैन

मेरे गलेसे क्यों लपटते हो, मैं वह नहीं जिसने रातको तुम्हारे साथ सेजपर शयन किया और जिस चंपकबर-नीने जगाकर फूल लालेके रंगके समान तुम्हारी आंखें की । मोगरे सोनजुही चंपा गुल्लाला यह पद श्लेष है । श्लेषालंकार ॥ १९२ ॥

प्रौढाधीरावर्णन ।

मैं तपाय त्रयतापसों, राख्यो हियो हमाम ॥ मति कबहूं आये इहां, पुलक पसी-जहि स्याम ॥ १९३ ॥

मैंने तीन तापसे तपा कर अपना हिया हम्माम कर-रक्खा है, जो कभी आवेंगे तो श्रीकृष्ण रोमांच होकर पसीजेंगे, आशय यह कि, कृपाकर मेरे मनके संताप दूर करेंगे, अधिदैविक–देवताओंसे होनेवाले ताप । अधिभौतिक लोककृत । अध्यात्मिक–आत्मासे होनेवाला यह मैंने तीन तापका महादुःख पाया है, कृष्ण उद्धार करेंगे हम्माम गरम पानीका कुण्डसा होता है, उसमें स्नान करते हैं । रूपकालंकार ॥ १९३ ॥

जो तिय तुम मनभावती, राखो हियें बसाय । मोहिं खिजावति दृगनि है, वहई उझकति आय ॥ १९४ ॥

हृदयमें अपना प्रतिबिम्ब देख प्रीतमसे प्यारी बोली तुम्हारे मनमें जो भावती है वही तुमने हृदयमें बसा रक्खी है, मुझे खिजाती है और तुम्हारी आंखोंमें होकर मुझे झाँकती है । लुप्तोत्प्रेक्षा ॥ १९४ ॥

प्रौढाअधीरावर्णन ।

सदन सदनके फिरनकी, सदन छुटै हरिराय । रुचै तितै विहरत फिरो, कत विहरत उर आय ॥ १९५ ॥

हे कृष्ण ! घर घर फिरनेकी तुम्हारी बान नहीं छुटती अच्छा जहां तुम्हारी इच्छा हो वहां विहरते फिरो, मेरे

हृदयमें क्यों विहरते हो अथवा आनकर मेरी छाती क्यों चीरते हो । लाटानुप्रासजमकालंकार ॥ १९५ ॥

सुभर भऱ्यो तुव गुणकणनि, पचयो कुबत कुचाल । क्यों धौं दाऱ्यो लौंहियो, दरकत नाहिं नँदलाल ॥ १९६ ॥

हे नंदलाल! तुम्हारे गुणोंके सूखे घासँसे भली प्रकार भराहुआ तुम्हारी बुरी बात और कुचालसे पकाहुआ मेरा हृदय अनारकी भाँति क्यों नहीं फटता । पूर्णोपमा ॥ १९६ ॥

केसर केसर कुसुमके, रहे अंग लपटाय । लगे जाननख अनखली, कत बोलत अनखाय ॥ १९७ ॥

केसरके फूलके तन्तु अंगमें लिपट रहे हैं तू और बालाके नख जानकर प्रीतमसे अनखाकर क्यों बोलती है । व्याजोक्ति ॥ १९७ ॥

मोटीधीरा ।

रसकेसे मुख शशिमुखी, हँसि हँसि बोलति बैन । गूढमान मन क्यों रहै, भये बूढ रँग नैन ॥ १९८ ॥

हे चन्द्रमुखी! तू हँसकर रसकेसे त्योरके वचन बोलती है, पर छिपाहुआ मान मनमें कैसे रहसकता है, तेरे

नेत्रही बीरबहूटीकेसे रंगके होरहे हैं । काव्यलिंगलुप्तावाचक ॥ १९८ ॥

मोहूसों बातन लगे, लगी जीभ जेहि नाय ।
सोई लै उर लाइये, लाल लागियत पाय १९९

प्रीतमको मनाते समय प्यारीके सन्मुख उसका नाम निकलगया जिसके कारण यह रूठी थी तब वह बोली मुझसेभी बातें करते तुम्हारी जीभ जिस नायकासे लगी उसको ले हृदयसे लगाओ, हे कृष्ण ! मैं तुम्हारे पांव पडती हूं मुझे छोडो। काव्यलिंग ॥ १९९ ॥

गहकि गाँस औरै गहे, रहे अधकहे वैन ।
देखि खिसौंहे पिय नयन, किये रिसौंहैं नैन ॥ २०० ॥

सखीका वचन सखीसे, उमँग कर औरही आशय लिये बातें करती थीं सो वह अधकही बातें रहीं, प्रीतमके खिसौंने नयन देखकर प्यारीने रिसभरी आंखें करी अर्थात् आंखोंसे जानलिया कि, यह और कहीं आसक्त है । भेदकातिशयोक्ति ॥ २०० ॥

इति श्रीकविविहारीदासकी सतसईमें पंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृत दूसरा शतक पूर्ण हुआ ॥ २ ॥

उत्तमा खण्डिता ।

वाहीकी चित चटपटी, धरत अटपटे पाय । लपट बुझावत विरहकी, कपट भरेहु आय ॥ २०१ ॥

उसीके मिलनेकी मनमें चटपटी है, इस कारण अटपटे पांव धरतेहो, इस प्रकार कपटभरेभी आकर तुम मेरे विरहकी तपत बुझाते हो । पंचम विभावना ॥ २०१ ॥

दक्षन पिय ह्वै वाम वश, बिसराई तिय आन । एकै वासरके विरह, लगे बरष विताय ॥ २०२ ॥

हे चतुर पिय ! तुमने एक स्त्रीके वशीभूत हो और स्त्रियोंको भुलादिया, हमें तो एकही दिनका विरह वर्ष दिनके समान बीतनेलगा अथवा हे प्रिय ! तुम हमारे दहिने नहीं वाम हो काव्यलिंग ॥ २०२ ॥

मध्यमावर्णन ।

बालमवारे सौतिके, सुन परनारि विहारि । भो रस अनरस रँगरली, रीझ खीज इक वारि ॥ २०३ ॥

नायकने सौतकी वारीमें परनारीके यहां जाकर भोग किया, यह सुनकर रस और अनरस अर्थात् सुख और दुःख हुआ अर्थात् इस रंगमें मिलकर रीझीभी और

खीजीभी सुख तोइस बातका कि, सौतकी बारी टलकर उसको दुःख हुआ, और अनरस यह कि, मेरे पास न आकर औरके पास गये, रीझी इस बातपर कि, मेरी बारी नहीं टाली, खीजी इसपर कि, कहूं मेरे संग ऐसा न करे यह प्रकृति बुरी है। दीपकालंकार ॥ २०३ ॥

अधमा वर्णन ।

मुँह मिठास दृग चीकने, भौंह सरल सुभाय । तऊ खरे आदर खरो, क्षण २ हियो सकाय ॥ २०४ ॥

मुखपर मीठापन चिकने नेत्र, सरल स्वभावकी भृकुटी हैं तोभी प्यारीके अति आदरसे क्षण २ में हृदय डरता है अर्थात् ऐसा न हो कि कहीं क्रोध कर उठें अर्थात् ज्यों २ वह मीठी २ बातें करती है त्यों त्यों मन डरता है। पंचम विभावना ॥ २०४ ॥

रही पकर पाटी सुरिस, भरे भौंह चित नैन । लखि सपने पिय आन रति, जगतहु लगति हियै न ॥ २०५ ॥

क्रोधभरी भौंह नेत्र, और चित्तसे खाटकी पट्टी पकड़ रही स्वप्नमें प्रीतमको अन्य नारीके साथ सम्भोग करता देखकर जागकरभी प्रीतमको हृदयसे नहीं लगाती। भ्रान्त्यलंकार ॥ २०५ ॥

इति नायक नायका वर्णनं नाम प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ।

---

अथ संयोगशृंगारवर्णन ।

अँगुरिनु उचि भरु भीतदै, उलमि चितै चखलोल । रुचिसों दुहूँ दुहूँनके, चूमे चारु कपोल ॥ २०६ ॥

पाँवकी अँगुरियोंसे उचक भीतपर बोझ देकर लटककर चञ्चल आंखोंसे चारों ओर देख परमप्रीतिसे दोनोंने दोनोंके सुन्दर कपोल चूमें । जात्यलंकार ॥ २०६ ॥

विपरीतरतिवर्णन ।

पर्‍यो जोर विपरीत रति, रुपी सुरत रणधीर । करति कुलाहल किंकिणी, गह्यो मौन मंजीर ॥ २०७ ॥

विपरीत रतिका भार पडनेसे प्यारी संभोगरूपी युद्धमें धीर हो डटगई उस समय तगडीके घुंघरू शब्द करनेलगे और पैरके भूषण नूपुरने मौनता गही । जाति वा समासोक्ति ॥ २०७ ॥

नीठि नीठि उठि बैठिहू, पिय प्यारी परभात । दोऊ नींदभरे खरे, लगे लागि गिरजात ॥ २०८ ॥

नीठि २ उठ बैठकर प्रातःकालमें प्रीतम और प्यारी नींदमें भरे खरे गले लगकर गिर पडते हैं । स्वभावोक्ति । नीठ नीठ–इच्छाकरके ॥ २०८ ॥

विनती रति विपरीतकी, करी पराशि पिय पाय। हँसि अनबोलेही दियो, उत्तर दियो बताय ॥ २०९॥

प्यारीके चरण छूकर प्रीतमने विपरीत रति करनेकी प्रार्थना की प्यारीने बिना बोलेही उत्तर दिया सो मैंने तुम्हें बताया आशय यह न बोलनाही अंगीकार है। विभावनापंचम ॥ २०९ ॥

रमण कह्यो हँसि रमणिसों, रति विपरीत विलास। चितई फिर लोचन सतर, सगर बसल जसहास॥ २१०॥

प्रीतमने हँसकर प्यारीसे विपरीत रतिके विलास करनेको कहा तब रूखी आंखोंकर लाज और क्रोध सहित प्यारीने देखा। हावसुभावोक्ति ॥ २१० ॥

प्रेमखेल।

प्रीतम दृग मिहिंचति प्रिया, पाणि परश सुखपाय। जान पिछान अजानलों, नेक न होति जनाय ॥ २११ ॥

प्रीतमने आनकर पीछेसे आँखें मीची उस समय प्यारी हाथके लगनेका सुख पाकर जान पहँचान कर अजानकी भांति होती है यह बात सखियोंपर तनक नहीं खुलती। पर्यायोक्ति। छलसे इष्ट साधा ॥ २११ ॥

सरस सुमिल चित तुरँगकी, करि करि अमित उठान । गोइ निबाहे जीति यह, प्रेमखेल चोगान ॥ २१२ ॥

प्रेमपूर्वक भली प्रकार प्रीतमसे मिल चित्तरूपी घोडेके अनगिन्त धावे अर्थात् मनोरथ करके ( गोइ ) छिपाकर अथवा गेंदसे निबाहनेसे प्रेम और मैदानका खेल जीतते हैं अर्थात् जैसे घुडसवार गेंदको लकडीसे लुढकाते सीमातक ले जाते हैं और जीतते हैं इसी प्रकार तूभी बुद्धिसे छिपाकर मर्यादातक निबाहले तो जीतेगी । रूपक ॥ २१२ ॥

दृग मीचत मृगलोचनी, भरयो उलटि भुजबाथ ॥ जानगई तिय नाथको, हाथ परशही हाथ ॥ २१३ ॥

पीछेसे आंख मीचतेही मृगलोचनीने हाथ उलटकर प्रीतमको अंकमें भरा, हाथसे छूतेही अपने प्रीतमके हाथको जानगई ।-काव्यलिंग ॥ २१३ ॥

मैं मिसहा सोयो समुझि, मुँह चूम्यो ढिग जाय ॥ हँस्यो खिसानी गर गह्यो, रही गरे लिपटाय ॥ २१४ ॥

मैंने बहाना करके सोये हुएको निश्चयही सोया जानकर उनके धोरे जाय मुख चूमा तब वे हँसे तब मैं खिसि-

यानी होगई उन्होंने मेरा गला पकड़ा तब मैं उनके गलेसे लिपट गई अर्थात् गलेमें हाथ डाल चुंबन करना चाहा परन्तु मैं मुख ऊँचाकर लिपट गई । भ्रान्ति ॥ २१४ ॥

मुँह उघारि प्यौ लखि रहत, रह्यो नगो मिस सैन । फरके होठ उठे पुलक, गये उघर युग नैन ॥ २१५ ॥

मुँह उघार कर प्रीतम देख रहेथे तब उससे बहाना करके सोना न बन पड़ा, होठ फड़क उठे शरीरमें रोमांच होकर दोनों नेत्र खुलगये । जात्यलंकार ॥ २१५ ॥

दोऊ चोर मिहीचनी, खेलन खेल अघात । दुरत हिये लपटायकै, छुवत हिये लपटात

नायक और परकीया बाला आंख मिचौनी खेलते हैं परंतु खेलसे मन नहीं भरता छातीसे छिपट कर छिपते हैं और छातीसे लिपट कर छूते हैं । विशेषोक्ति ॥२१६॥

मदपानवर्णन ।

हँसि हँसि हेरत नवल तिय, मदके मद उमदाति । बलकि बलकि बोलति वचन, ललकि ललकि लपटाति ॥ २१७ ॥

नवोढा बाला हँस हँसकर देखती है हर्षकी मदिरासे उमंगती है उमंग उमंगके बात करती है और बढ बढकर प्रीतमसे लिपटती जाती है । जाति अलंकार वा वीप्सा ॥ २१७ ॥

निपट लजीली नवल तिय, बहकी वारुणी सेइ । त्यों त्यों अतिमीठी लगै, ज्यों ज्यों ढीठी देइ ॥ २१८॥

नवोढा बाला अत्यन्त लजीली थी मदपान करके बहकगई ज्यों ज्यों प्रीतमसे ढिठाई करती है त्यों त्यों उसे अच्छी लगती है। जातिलंकार ॥ २१८॥

खलित वचन अधखुलित दृग, ललित स्वेदकण जोति। अरुण वदन छवि मदछकी, खरी छबीली होति ॥ २१९॥

खिलखिलाकर बातें करती है अधखुले नेत्र हैं सुन्दर पसीनेके मोतियोंकी ज्योति चमकती है लाल मुख है शोभाके मदसे मतवाली बाला अति शोभित होती है। जाति० ॥ २१९ ॥

रूपसुधा आसव छक्यो, आसव पियत बनै न । प्याले ओठ प्रियावदन, रह्यो लगाये नैन ॥ २२०॥

प्यारीके रूपरूपी अमृतसे पेट भरनेके कारण मद्-पान नहीं किया जाता, प्यालेसे होठ लगाये हैं और नेत्र प्रियाके मुखकी ओर लग रहे हैं। तुल्ययोगिता॥२२०॥

गली अँधेरी साँकरी, भो भटभेरो आन

परे पिछाने परस्पर, दोऊ परस पिछान२२१

गली अंधेरी और छोटी है वहां दोनोंका भटभेरा हुआ परस्पर शरीरसे शरीर लगनेसे दोनों जानेगये। उन्मीलितालंकार ॥ २२१ ॥

लटकि लटकि लटकत चलत, डटत मुकुटकी छांहँ। चटक भर्‌यो नट मिलगयो, अटक भटक वनमांहँ ॥ २२२ ॥

झुकझुककर लटकते चलते मुकुटकी छाँहको देखते चटकभर छविके भरे नटवर वेष किये कृष्ण अटकते भटकते वनमें मुझको मिलगये। जातिस्वभावोक्ति॥२२२॥

अहे दहेंडी जिन धरै, जिन तूलेइ उतारि। नीके है छींको छुवै, ऐसेंही रह नारि॥२२३॥

प्रीतमका प्यारीसे परिहास; अरी दहीकी हांडी मत धरै और उतारकर मत भूले, छींका छुएहुए अच्छी लगती है हे नारी ! ऐसेही रह आशय यह छींकेपर हांडी रखते प्यारीके अंग दीखे इसपर प्रीतमने कहा। स्वभावोक्ति ॥ २२३ ॥

मन न मनावनको करै, देत रुठाय रुठाय। कौतुक लाग्यो प्रिय प्रिया, खिजहू रिझवति जाय॥२२४

प्रीतमका मन मनानेको नहीं करता इस कारण बारं

वार रूठा रूठा देता है, लीलामें लगे प्रीतमको प्रियाका क्रोध भी रिझाता जाता है । पंचम विभावना विरुद्धते कार्य ॥ २२४ ॥

छ्वै छिगुनी पहुँच्यो गिलत, अतिदीनता दिखाय । बलि वामनको ब्यौंत सुनि, को बलि तुम्हैं पत्याय ॥ २२५ ॥

परकीयासे रति मांगते हैं सो वह हँसी करती है अति-दीनता दिखाकर अंगुरी छूकर पहुँचा पकडतेहो, बलि और तुम्हारे वामन अवतारकी रीति सुनकर तुम्हारा विश्वास कौन करै, जैसे छोटे हो बलिसे भूमि मांग फिर सब लेकर उसे दुःख दिया इसी प्रकार अँगुरी पकड पहुँचेको हाथ चलाय सर्वस्व ले यही दशा हमारी करोगे। लोकोक्ति ॥ २२५ ॥

चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर । को घटिये वृषभानुजा, वे हलधरके वीर २२६

राधाकृष्णकी जोरी चिरकालतक जियो, इनका गंभीर प्रेम क्यों न हो, इन दोनोंमें कौन घाट है वृषभानुकी बेटी या बलदेवके भाई । समालंकार [ दोहा-समप्रभाव वर्णन जहां, दो वस्तुनको होय । कहत समालंकार तेहि जानत यहि कोइ कोय ॥ ] ॥ २२६ ॥

कहा लडैते दृग करे, परे लाल बेहाल ।

कहुँ मुरली कहुँ पीतपट, कहूँ मुकुट बन-
माल ॥ २२७ ॥

हे लाडले! ऐसे क्या तुमने अपने नेत्र किये हैं जो तुम बेहाल पडेहो कहीं मुरली, कहीं पीला वस्त्र, कहीं मुकुट, कहीं वनमाला पडी है; चलकर तो देख। व्याजस्तुति ॥

यौं दल मिलियत निरदई, दई कुसुमसे गात। कर धर देखो धरधरा, अजौं न उरको जात ॥ २२८ ॥

हे भगवन्! यह निर्दयी होकर फूलोंसे गातको ऐसे दलकर मलते हैं, हाथ रखकर देखो मेरी छातीका धडकना अब तक नहीं जाता, नायकाकी सखीका नायकसे उर-हना। विषमालंकार ॥ २२८ ॥

मैं तोसों कैवाँ कह्यो, तू जिन इन्हैं प-त्याय। लगालगी कर लोयननि, उरमें लाई लाय॥ २२९ ॥

हे मन! मैंने तुझसे कई बार कहा तू इनका विश्वास मत करै आंखोंमें लाग लगाकर निदान छातीमें आग लगाईही आशय यह कि, बिना इनके जी घबरा जाता है। असंगति ॥ २२९ ॥

मन न धरति मेरो कह्यो, तू आपने सयान। अहै परन परि प्रेमकी, परहथ पारन प्रान॥

तू अपनी सयानतासे मेरी बात मनमें नहीं रखती, अरी प्रेमके परनमें पडके पराये हाथ जी मत डाले, आशय यह स्वयं प्रेम कर बीचमें दूती मत डाले । वृत्त्यनुप्रास २३०

बहक न इहि बहनापते, जब तब वीर विनास । बचै न बडी सबीलहू, चील्ह घौंसुआ माँस ॥ २३१ ॥

हे बहन ! इस बहनापनके मत बहके, हे बहन ! जब न तब इसमें विनाश है, कारण कि, बडी युक्तिसेभी चीलके घौंसलेमें मांस नहीं बचता अर्थात् बहनचारेमें सुन्दर स्त्री नहीं बचसकती । दृष्टान्तालंकार ॥२३१॥

तू रहि सखि हौंही लखौं, चढि न अटा वलि बाल ॥ विनहीं उगे शशि समुझ, दैहैं अर्घ अकाल ॥ २३२ ॥

हे सखि ! तू यहीं रह मैंही देखूंहूं मैं बलि जाऊं तू अटापर मत चढे नहीं तो बिनही चन्द्रमा उगे लोक अकालमें तुझे चन्द्रमा समझ अर्घ्य देने लगेंगे । पर्यायोक्ति ॥ २३२ ॥

दयो अरघ नीचे चलो, संकट भानै जाय । सुचितीह्वै औरे सबै, शशिहि बिलोकै आय ॥

अब अर्घ्य दे चुकी नीचे चलो ( भोजन कर ) संकट दूर करैं औरभी सब सुचिती होकर चन्द्रमाको आकर

देखैं अर्थात् दो चन्द्रमाका सन्देह जाताहै । संशयालं-
कार । पूर्ण अपूर्णके प्रश्नमें चन्द्रमाका उजाला लेना २३३

भाववर्णन ।

नाक चढै सीवी करै, जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि उहै गहै, पिय कँकरीली गैल ॥ २३४ ॥

एक समय प्रिया प्रीतम मार्गमें चले तब प्रीतम आप कँकरीले मार्गमें चलनेलगे, प्यारीके निमित्त श्रेष्ठमार्ग छोडने लगे जब छैल आप कँकरीले मार्गमें चले, उस समय कंकर लगी तो सीवी करती है यह चेष्टा प्रीतमको भली लगी इस कारण फिर भूलकर उस कँकरीले मार्ग-मेंही चलते हैं " असंगति " ॥ २३४ ॥

लखि लखि आँखियन अधखुलनि, अंग मोरि अँगराय । अधिक उठति लेटाति ल-टकि, आलसभरी जँभाय ॥ २३५ ॥

अधखुली आंखोंसे प्रीतमको देख अंग मोडकरअंग-राई लेती है आधी एक उठ झुककर लेटती है, आल-स्यभरी जंभाई लेती हैं 'स्वभावोक्ति' ॥ २३५ ॥

दोऊ चाहभरे कछू, चाहत कह्यो कहै न।
नहिं जाचक सुनि सूमलो, बाहर निकसत बैन ॥ २३६ ॥

दोनों प्रीतमप्यारे चाहसे भरे कुछ कहा चाहते हैं, परन्तु लाज और संकोचसे कुछ नहीं कहते, जिस प्रकार मँगताके आनेसे सूम बाहर नहीं आता इस प्रकार दोनोंके मुखसे वचन नहीं निकलते. 'उपमा' ॥ २३६ ॥

उद्दीपनविभाववर्णन ।

उयो शरद्राका शशी, करति न क्यों चित चेत । मनो मदन क्षितिपालको, छाँहगीर छवि देत ॥ २३७ ॥

अरी शरद्का पूर्ण चन्द्रमा उदय हुआ मनमें चेत क्यों नहीं करती, यह चन्द्रमा नहीं मानो कामरूप पृथ्वीपतिका छत्र शोभित होता है छाँहगीर छत्र 'वस्तूत्प्रेक्षा' ॥ २३७ ॥

अनुभाववर्णन ।

नावक सरसे लायकै, तिलक तरुणि इत ताकि । पावक झरसी झमककै, गई झरोखें झाँकि ॥ २३८ ॥

नावकके तीरकी समान तिलक लगाये प्रिया इस ओर देखकर खिडकीमें झांककर आगकी लपटसी चमककर चली गई, 'छेकानुप्रास' तथा 'उपमा' ॥ २३८ ॥

सुनि पगध्वनि चितई इतै, न्हात दियेहीं पीठि । चकी झुकी सकुची डरी, हँसी लजीली दीठि ॥ २३९ ॥

जो पीठ दिये हुए स्नान करती थी, उसने मेरे पांवका शब्द सुन मेरी ओर देखा, उस समय चौकी निहुराकर सकुची डरी और लज्जीली दृष्टि कर हँसी, 'हाव' समुच्चयालंकार ॥ २३९ ॥

सहित सनेह-सकोच सुख, स्वेद कंप मुसक्यानि । प्राण पानि करि आपने, पान दये मोपानि ॥ २४० ॥

प्रीतिसकुच और रोमांचके सहित मेरा जी अपने हाथमें कर अपने पान मेरे हाथमें दिये 'विनिमय' ॥ २४० ॥

विभ्रमहाववर्णन ।

रही दहेंडी ढिगधरी, भरी मथनियाँ वारि । कर फेरत उलटी रई, नई बिलोवनि हारि ॥ २४१ ॥

दहीकी भरी हंडिया निकट धरि रही, और दही मथनेकी बडी हाँडी पानीसे भर दी, और उलटी रई हाथसें घुमाती है तू अनोखी बिलोनेवाली है, अर्थात् प्रीतमको देख मन ठिकाने न रहा उस समयकी दशा सखीने कही 'भ्रान्ति' ॥ २४१ ॥

बेसर मोती द्युति झलक, परी ओठपर आय । चूनो होय न चतुरतिय, क्यों पट पोंछ्यो जाय ॥ २४२ ॥

बेसरके मोतीकी झलक तेरे होठपर आकर पडी है, हे चतुर ! यह पानका चूना नहीं है कपडेसे क्योंकर पोंछा जाय 'भ्रान्त अपन्हुति' ॥ २४२ ॥

टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख जोति ॥ फिरति रसोईके बगर, जगर मगर दुति होति ॥ २४३ ॥

तुरतकी धोई धोती पहरे चटकीली मुखकी कांतिसे रसोईके आंगनमें फिरती हुईके शरीरकी शोभा जगर मगर होती है 'जातिलंकार' ॥ २४३ ॥

क्षणेक चलत ठठकत क्षणेक, भुजप्रीतम गल डारि । चढी अटा देखति घटा, विज्जुछ-टासी नारि ॥ २४४ ॥

एक क्षणको चलती है फिर क्षणमात्रको ठठकती है प्रीतमके गलेमें बांह डाले बिजलीकी छटासी वह बाला अटारी पर चढी घटा देखती है, 'धर्मलुप्तोपमा' ॥ २४४ ॥

राधा हरि हरि राधिका, बनि आयें संकेत । दम्पति रति विपरीत सुख, सहज सुरतहू लेत ॥ २४५ ॥

राधा कृष्ण बनी और कृष्ण राधा बनकर संकेत ( मिलापस्थान ) में आये वह दोनों प्रिया प्रीतम सहज सुरतमें ही विपरीत रतिका सुख लेते हैं, 'काव्यलिंग' इसी शोभाको

मेरे पितृव्य कविवर झब्बीलालजने यों लिखा है कि, पद यह जोडी मेरे मनभाई है गोरे लाल चंद्र सम सोहैं। राधेश्याम अधिक मन मोहैं मानो घटा मिलन शशि आई है ॥ १ ॥ मृदुमुसकानभरी रौनेकी। भाल बंधी बंदी सोनेकी। लखि दामिनिसी दमकाई है ॥ २ ॥ शिर मोरन चंद्रिका सुहाई। घटा निरख बोले मोर आई। जो लालने बंसी बजाई है ॥ ३ ॥ मुक्तमाल कुचबिच लटकी है। तामें यह शोभा अटकी है। जनु गिरि बिच नदी बहाई है ॥ ४ ॥ शिर मोतिनकी माँग विराजै। ताकी छबि बर्णाति कवि लाजै। मनुबक पंक्ति बैठाई है ॥ ५ ॥ जब राधे इत उत कहुं डोलैं, नूपुर ऐसी बोली बोलैं। मानो दादुर झिंगर झर-लाई है ॥ ६ ॥ बोलत राधे अति प्रिय बानी। सो बानी मोहि अति हि सुहानी। मनो कोयल कूक सुनाई है॥ ७ ॥ स्वांतिबूँद दर्शन तेरो। प्रेम सखीको मन चातक चेरो। तेरे नामकी रटन लगाई है ॥ ८ ॥

चलत घैरै घर घरतऊ, घरी न घर ठहराति। समुझि उही घरको चलै, भूलि उही घर जाति ॥ २४६ ॥

अपने घरकी कोठरी कोठरीमें घूमती है, तोभी घरमें घडीभर नहीं ठहरती जानकरभी उसी घरको जाती है. भूलकरभी उसी घरको जाती है. अथवा समुझ उही घर-घरकी उस दुर्नामताको समझकर घरको चलती है और

फिर प्रेमके कारण निन्दाको भूल कृष्णकेही स्थानको चली आती है 'भ्रांति' ॥ २४६ ॥

नाहिं नहीं नाहींककै,नारि निहोरे लेय।छुवत ओठ बिच आँगुरिन, बिरी वदनप्यो देय ॥

नहीं नहीं कर प्यारी निहोरेसे लेती है, प्यारे पानकी बीडी देते समय होठोंको अंगुरियोंसे छू देते हैं 'कुट्टमित हाव, स्वभावोक्ति' ॥ २४७ ॥

गदराने तन गोरटी, ऐपन आड लिलार।
हूडयो दै अठलाय दृग, करै गँवारि सुमार ॥

गदराने शरीरकी गोरी वाला माथेपर ऐपनकी आड लगाये अठखेलीसे आंखका धक्का दे गँवारी मुझे विद्ध किये देती है 'मदहाव' 'जाति' अलंकार ॥ २४८ ॥

जात मरी बिछुरत घरी, जल सफरीकी रीति। क्षण क्षण होत खरी खरी, अरी जरी यह प्रीति ॥ २४९ ॥

एक घरी भी जलसे बिछुरे तो मरजाती है यह। रीकी रीति है, परन्तु हे सखी ! यह हमारी जली प्रीति तो पलपलमें अधिक होती है आशय यह, मछरी तो मरकर दुःखसे छूटती है और मैं तो क्षणक्षण अधिक दुःख पाती हूं वा वियोगमें प्रीति बढती है तपनहाव वर्णन किया ॥ २४९ ॥

द्वैज सुधा दीधितिकला, यह लखि दीठि लगाय। मनो अकाश अगस्तिया, एकै कली लखाय ॥ २५० ॥

दोयजके चन्द्रमाकी अमृत भरी कलाको जान दृष्टि लगाकर देख, जैसे आकाशरूपी अगस्तके वृक्षमें एकही कली दिखाई दे रही है [ दीधिति चन्द्रमा ]। मुग्धाहाव. पर्यायोक्ति और उत्प्रेक्षालंकार ॥ २५० ॥

मोट्टायितहावबर्णन।

सकुचि सरकि पिय निकटतैं, मुलकि कछुक तन तोरि। कर आँचरकी ओटकर, जमुहानी मुख मोरि ॥ २५१ ॥

सकुचकर प्रीतमके पाससे सरक मुसकुराकर प्यारीने अँगडाई ले हाथसे आँचरकी ओटकर मुख मोर जँभाई ली. आशय यह कि, संभोगकी इच्छा की। 'स्वभावोक्ति' २५१

बेंदी भाल तंमोल मुख, सीस सिलसिलेबार। दृग आँजे राजै खरी, यही सहज शृँगार ॥ २५२ ॥

माथेपर बेंदी, मुखमें पान, शिरके चिकने बाल, आंखोंमें काजर दिये इस सहज शृंगारसेही अच्छी शोभा पारही है। जाति अलंकार, विक्षिप्तहाव ॥ २५२ ॥

बिव्वोकहाव ( स्त्रियोंका विलास )

विधि विधकै निकरैं टरैं, नहीं परेहू पान।

न्चितै कितै तैलै धरयो, इतौ इतै तन मान ॥ २५३ ॥

भांति भांतिसे प्रीतमने तेरा मान मनाया, पांवभी पडे परन्तु नहीं गया, देख तो इतने छोटे शरीरमें इतना बडा मान तैंने कहां ले धरा है। अधिक ॥ २५३ ॥

ललित हाववर्णन।

बतरस लालच लालकी, मुरली धरी लुकाय। सौंह करै भौंहनि हसै, दैन कहै नटि जाय ॥ २५४ ॥

बातोंके रसस्वादके लालची लालकी मुरली प्यारीने छिपा रक्खी, सौगंध खाया, भौंहोंमें हंसे देनेको कहै और फिर मुकर जाती है। पर्याय० स्वभावोक्ति ॥ २५४ ॥

विक्षेपहाव।

गुडी उडी लखि लालकी, अँगना अँगना मांहि। वौरीलों दौरति फिरै, छुवत छबीली छांहि ॥ २५४ ॥

प्रीतमकी गुडी ( कनकैया ) उडी देख वह बाला अपने आँगन २ में बौरी हुईसी दौडती फिरती है और पतंगकी छांहको छूती है। छेकानुप्रास पूर्णोपमा ॥ २५५ ॥

बोधकहाववर्णन।

लखि गुरुजन बिच कमलसों, सीस छुवा-

यो श्याम । हरिसन्मुख करि आरसी, हिये लगाई वाम ॥ २५६ ॥

गुरुजनोंके मध्यमें प्यारीको देख कृष्णने कमलको शिरसे छुवाया, और प्यारीने आरसी कृष्णके सन्मुख कर हृदयसे लगाई अर्थात् कृष्णने शिरपर कमल धर प्रणाम किया. प्यारीने आरसी दिखाय हिय लगाय रातमें मिलनेको कहा सूक्ष्मालंकार ॥ २५६ ॥

मैंहू जान्यो लोचनानि, जुरत बाढि है जोति । को हो जानत दीठिकों, दीठि किरकिटी होति ॥ २५७ ॥

हे सखी ! मैंने जानीही कि आंखोंके मिलतेही आंखोंमें जोति बढेगी, यह मैंने नहीं जाना कि, दृष्टि लगनेसे दृष्टि किरकिटी होती है आशय यह कि, देखतेही सात्विक हुआ और आंसूभर कर दृष्टि किरकिरी होगई । विषमालंकार ॥ २५७ ॥

हरि छबि जल जबतें परे, तबतें क्षणनिबैरन । भरत ढरत ऊडत तरत, रहत घरीलों नैन ॥ २५८ ॥

कृष्णकी छबिरूप जलमें जबसे पडे हैं, तबसे क्षणमात्रको निचिन्त नहीं हैं, भरते हैं, ढरकते हैं, मग्न होते हैं,

तिरते हैं, कटोरेकी चडीकी समान नेत्रोंकी दशा है। उपमालंकार॥ २५८॥

अलि इन लोयनको कछू, उपजी बडी बलाय। नीरभरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय॥ २५९॥

हे सखी! इन नेत्रोंको कोई बडा रोग उपजा है, इनमें नित जल भरा रहता है, तथापि ( प्रीतमदर्शनकी ) प्यास नहीं जाती, विना देखे जल भरे, देखनेसे तृष्णा नहीं मि-टती। विशेषोक्ति॥ २५९॥

अलि इन लोयन शरनिको, खरो विषम संचार। लगे लगाये एकसे, दुहुवन करत सुमार॥ २६०॥

हे सखी! इन नेनारूपी बानकी कठिन गति है यह, लगे लगाये एकसे हैं और लगानेसे दोनोंको मूच्छित करते हैं। असंगति॥ २६०॥

लोभ लगे हरि रूपके, करी साट जुरि जाय। होय नवेचीबीचहीं, लोयन बडी बलाय॥ २६१॥

सट्टेकी गोष्ठीमें परस्पर मिलकर कृष्णके रूपके लो-भमें लगगये यह मेरे नेत्र बडी बलाय हैं, इन्होंने मुझे बीचहीमें बेच दिया आशय यह कि, प्यारी प्रीतमके पास

जाती थी अचानक वे मार्गमें मिलगये तो नेत्र लगजानेसे मन उनके आधीन होगया इस कारण सखीसे कहा कि, मैं वहांतक पहुंची भी नहीं और इन्होंने सट्टा कर प्रीतमका रूप पान कर बदलेमें मुझे सेतमेत देदिया । रूपक॥२६१॥

नैना नेकन मानहीं, कितो कह्यो समुझाय ।
तन मन हारेहु हँसे, तिनसों कहा बसाय २६२

यह नेत्र मेरी एक नहीं मानते मैंने इन्हें कितनाही समझाकर कहा यह शरीर और मन हारनेसे भी हँसते हैं इनसे क्या बसाय । विशेषोक्ति ॥ २६२ ॥

ढरे ढार तेही ढरत, दूजे ढार ढरे न । क्याहूं आनन आनसों, नैना लागत नैन ॥ २६३ ॥

हे सखी ! यह जिस ओर ढरगये उसी ओरको ढरगये दूसरी ओर नहीं ढरते यह हमारी आखें किसी प्रकार भी (आन) दूसरेके मुखकी ओर लगतीही नहीं ऐसी आसक्त है । छेकानुप्रास ॥ २६३ ॥

कहत सकल कविकमलसे, मो मत नैन पषान । नतरु कुकत इन घिसि लगत, उपजत विरहकृशान ॥ २६४॥

सम्पूर्ण कवि नेत्रोंको कमलसे कहते हैं परन्तु मेरे मतमें नेत्र पत्थर हैं नहीं तो जब यह परस्पर चार होकर

मिलते हैं तो इनकी रगडसे अग्नि क्यों उत्पन्न होती है क-मलकी रगडसे आग उत्पन्न नहीं होती हेतूत्प्रेक्षा २६४॥

साजे मोहन मोहकौं, मोही करत कुचैन। कहा करौं उलटे परैं, टोनै लोने नैन॥ २६५॥

यह मैंने (अंजन लगाय) कृष्णके मोहनेको सजाये परन्तु यह मुझेही मोहित करते हैं क्या करूं इन नेत्ररूप जादूगरका जादू उलटा मेरेही ऊपर पडा। विषमालं-कार॥ २६५॥

मोहूसौं तजि मोह दृग, चले लागि उहि गैल। क्षणेक छाय छबिगुर डरी, छले छबीले छैल॥ २६६॥

मेरी आंखें मुझसेभी मोह छोडकर उनके पीछे हो उन्हीकी राह चलीं छिन एक छबिरूपी गुडकी डली छुवायके छबिले प्रीतमने मेरे नेत्र ठगलिये। रूपक॥ २६६॥

नख सिख रूप भरे खरे, तउ मांगत मुसकान। तजत न लोचन लालची, ये ललचौंहीं बान॥ २६७॥

प्रीतमके नखसे सिखापर्यंतके रूपमें अत्यन्त भर रहे हैं, तथापि मुस्कुरान देखनेकी इच्छा करते हैं यह लालची आपने ललचानेका स्वभाव नहीं छोडते। विशे-षोक्ति॥ २६७॥

यश अपयश देखत नहीं, देखत सां-
वलगात। कहा करौं लालच भरे, चपल नैन
चलि जात ॥ २६८ ॥

सखी! यह यश अपयशको तो नहीं देखते केवल
उनके सलोने शरीरको देखते हैं क्या करूं यह लालच-
भरे चञ्चल नेत्र उधरही चल जाते हैं अथवा आधेमें स-
खीने कहा तू यश अपयश नहीं देखती केवल सांवले गात
देखती है इसपर आगे उत्तर है। उत्तरालंकार ॥ २६८ ॥

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो वसनाहिं। यह
मुख जोर तुरंगलौं, एचतहू चलि जाहिं २६९

यह नेत्र लज्जा रूपी लगामको नहीं मानते, मेरे वश-
में नहीं और मुख जोर घोडेकी समान खेंचनेसेभी उसी
ओर चले जाते हैं। उपमा ओर रूपक ॥ २६९ ॥

इन दुखिया अँखियानको, सुख सिर-
जोई नाहिं। देखत बनैन देखते, बिन देखे
अकुलाहिं ॥ २७० ॥

हे सखि! इन दुखिया आंखोंको तो विधाताने सुख
बनायाही नहीं लोकोंके देखते लाजसे देखना नहीं बनता
अथवा देखते समय आंसू आनेसे नही देखा जाता ओर
बिन देखे अकुलाती हैं। विशेषोक्ति ॥ २७० ॥

को जाने ह्वै है कहा, जग उपजी अति

आगि। मन लागे नैननि लगै, चलै न मग लग लागि ॥ २७१ ॥

सखी कौन जाने क्या होगा जगत्में अधिक आग उपजी है यह नेत्रोंमें लगतेही मनमें लगती है तू इस कारण इस ( प्रेमकी आगके ) निकट होकर मत चल। असंगति ॥ २७१ ॥

बनतनको निकसत लसत, हँसत हँसत इत आय। दृग खंजनि गहि लै गयो, चितवनि चेप लगाय ॥ २७२ ॥

वनकी ओरको निकलते, शोभित होते हँसते हँसते इधर आकर अपनी चितवनका चेप लगाकर मेरे नेत्र-रूपी खंजन ( ममोले ) को पकडकर ले गये। रूपकालंकार ॥ २७२ ॥

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरति चतुर सँग प्रीति। परति गांठ दुर्जन हिये, दई नई यह रीति ॥ २७३ ॥

नेत्रोंके उलझनेसे कुटुम्ब छूटता है चतुरके संग प्रीति जुरती है शत्रुके मनमें गांठ पडती है हे विधाता! यह नई रीति है। असंगति ॥ २७३ ॥

है हिय रहति हई छई, नई युक्ति यह जोइ। आँखिन आँख लगीरहै, देह दूबरी होइ ॥ २७४

हाय हाय हृदयमें यह नई रीत छाई रहती है आंखोंसे आंखें लगी रहती हैं और शरीर सूखता है। असंगति ॥ २७४ ॥

क्यों बसिये क्यों निवहिये, नीतिनेह पुरनाहिं। लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बँध जाहिं ॥ २७५ ॥

यहां कैसे वसें और कैसे निर्वाह हो प्रीति नगरमें न्याव नहीं होता लगालगी तौ नेत्र करते हैं, मन वृथा बँध जाता है। असंगति ॥ २७५ ॥

ज्ञात सयान अयान है, वे ठग काहि ठगै न। को ललचाय न लालके, लखि ललचोहे नैन ॥ २७६ ॥

वहां सयाना भी अयाना होजाता है वे नेत्ररूपी ठग किसे नहीं ठगते, लालके ललचोहे नेत्र देखकर कौन न ललचावै। व्याजस्तुति ॥ २७६ ॥

डर न टरै नींद न परै, हरै न काल विपाक। क्षणछाक उछकै न फिर, खरो विषम छवि छाक ॥ २७७ ॥

डर दूर नहीं होता, नींद आती, कालकर्म भोगको हरण नहीं करता, एकक्षण छककर फिर नहीं उछकता छबिके मदसे छकना विषमतेज है, आशय यह कि,

हे सखी ! भयसे मदका मद उतर जाता है परन्तु रूपका मद नहीं उतरता, उसमें नींद आती है पर इसमें नहीं वह समयपर जाता है यह नहीं, उसके पानसे चेत होजाता है इस रूपका क्षणमात्र पान करनेसे फिर चेत नहीं होता, मदके मदसे रूपका मद बडा है । आक्षिप्त उपमामें व्यतिरेक ॥ २७७ ॥

चित वित बचत न हरत हठि, लालन दृगवर जोर । सावधानके वटपरा, ये जागतके चोर ॥ २७८ ॥

हे सखी ! मेरा चित्तरूपी धन नहीं बचता कृष्णके नेत्र बरजोरीसे उसको हरे लेते हैं, सावधानके वटमार और जागतेके चोर हैं [ वटमार--मार्ग लुटेरे ] विभावना२७८

चख रुचि चूरन डारिकै, ठग लगाय निज-साथ । रह्यो राखि हठ लै गयो, हथाहथी मनहाथ ॥ २७९ ॥

आंखोंकी शोभारूप भभूत डालकर वह ठग अपने साथ लगाकर बलसे अति हठकर हाथोंहाथ मेरे मनको वशकर लेगया आशय यह कि, उसकी शोभासे मेरा मन उसके साथ गया और रुक न सका जैसे ठग बुकनी डाल-कर हाथ पकड ले जाते हैं । विशेषोक्ति ॥ २७९ ॥

कीन्हें हू कोरिक यतन, अवगहि काढे

कौन । मो मनमोहनरूप मिलि, पानीमैंको लौन ॥ २८० ॥

करोड यतन करकेभी अब पकडकर उसको कौन निकाले जलमें नमककी समान मिलकर मेरा मन कृष्ण-रूप होगया है । दृष्टान्त ॥ २८० ॥

फिर फिर चित उतही रहत, टुटी लाजकी लाव ॥ अंगमें अँग छबि झौरमें, भयो भौंरकी नाव ॥ २८१ ॥

फिर फिरकर मन उधरही रहता है लाजरूपी रस्सी टूट गई अंग अंगकी शोभाके समूहमें मन भँवरकी नावसा चक्र खाता है आशय यह है कि, जैसे रस्सी टूटनेसे नाव भँवरमें चक्कर खाती रहती है इसी प्रकार उसके रूपमें मेरा मन भ्रमता है । रूपक ॥ २८१ ॥

ओठ उचै हाँसी भरी, दृग भौंहनकी चाल ॥ मोमन कहा न पीलियो, पियत तमाखू लाल

होठ ऊंचे किये नेत्र ओर भौंहकी चाल हँसीसे भरी थी उन प्रीतमने तमाखू पान करते मेरा मन पीलिया । स्वभावोक्ति ॥ २८२ ॥

लरिका लेवेके मिसनि, लंगर मोढिग आय ॥ गयो अचानक आंगुरी, छाती छैल छुवाय ॥ २८३ ॥

बालक लेनेके बहाने वह छैल ढीठ मेरे निकट आकर अचानक मेरी छातीमें अपनी अंगुरी छुवाय गया 'पर्यायोक्ति' ॥ ८३ ॥

नई लगन कुलकी सकुच, बिकलभई अकुलाय। दुहूं ओर ऐंची फिरै, फिरकी लौं दिन जाय ॥ २८४ ॥

नई प्रीति और कुलकी सकुचसे घबराकर व्याकुल हो दोनों ओर खिचीहुई फिरकीके समान फिरती है, इधर उधरकी खिचावटमेंही दिन जाता है, कभी प्रीतमका ध्यान कभी घरका संकोच 'उपमेयलुप्त' परकीयामध्यानायिका॥

झटकि चढति उतरति अटा, नैकन थाकति देह। भई रहत नटको बटा, अटकी नागरिनेह ॥ २८५ ॥

झट चढती है, और झट अटारीसे उतरती है देह थकता नहीं है वह नागरी ( चतुर ) नेह लगनेके कारण नटका चट्ट बट्टाहुई रहती है 'विषेशोक्ति रूपक' ॥ २८५ ॥

इतते उत उतते इतै, क्षण न कहूं ठहराति। कल न पराति चकई भई, फिरि आवति फिरि जाति ॥ २८६ ॥

इधरसे उधर उधरसे इधर फिरती है क्षणभर कहीं नहीं ठहरती कल नहीं पडती चकईके समान प्रीतमके देखनेको फिर २ आती और जाती है 'उपमेयवाचक लुप्तोपमा' २८६

उर उरझो चितचोरसों, गुरु गुरुजनकी लाज । चढे हिंडोरेसे हिये, किये बनै गृहकाज ॥ २८७ ॥

मन तो चित्तचोरसे उलझ रहा है उधर गुरुजनोंकी लज्जा है हिंडोलेसे हियेपर चढकरभी बालाको घरका काम कियेही बनता है, आशय यह है कि, डांवाडोल मनसे घरका काम करे है ' छेकानुप्रास ' ॥ २८७ ॥

उनिहरकी हँसिकै उतै, इन सौंपी मुसिक्याय । नैन मिले मन मिल गयो, दोऊ मिलवत गाय ॥ २८८ ॥

प्रीतमने हँसकर अपनी गौ प्यारीकी ओर हांकी प्यारीने हँसकर प्यारेको सौंपी, नैन मिलतेही मन मिलगया जिस समय गाय मिलाई द्वितीय असंगति । हरकी–हांकी ॥ २८८ ॥

उनको हित उनहीं बनै, कोऊ करो अनेक । फिरत काक गोलकमयो, दुहूं देह ज्यों एक ॥ २८९ ॥

दोनोंका हित उनही दोनोंसे बन आता है और कोई कितनीही करो नहीं बनता दोनोंके शरीरमें एकही जीवको एकी आंखके समान कभी इधर कभी उधर फिरता है 'दृष्टान्त' ॥ २८९ ॥

याके उर औरे कछू, लगी विरहकी लाय । पजरै नीर गुलाबके, पियकी बात बुझाय २९०

इसके हियेमें औरही कुछ विरहकी बुरी आग लगी है गुलाबका जल छिडकनेसे बलती है और प्रीतमकी बात करनेसे बुझती है प्रोषितपतिका आग पानीसे बुझती है परन्तु विरहाग्नि पानीसे बढी. बात–हवासे अग्नि बढती है यहां बात वार्तासे बुझी यह विरुद्धते कार्य हुआ 'विभावनालंकार' ॥ २९० ॥

तिय निय हिय जु लगी चलत, पिय नखरेख खरोट । सूखन देत न सरसई, खोंटि खोंटि खतखोट ॥ २९१ ॥

चलते हुए प्यारीके हृदयमें जो प्रीतमके नेहके खरोंटकी रेखा लगी है, सो उस क्षतके अंकुरको नखसे कुरेद कुरेदकर उसका गीलापन नहीं सूखने देता यही खोट है, याद रखनेके निमित्त उपाय है 'अनुज्ञा' ॥ २९१ ॥

वसि सकोचवश वदनवश. साच दिखावति बाल । सियलों शोधति तियत नहिं, लगनि अगनिकी ज्वाल ॥ २९२ ॥

प्यारी रावणरूपी लाजके वशमें रहकरभी अपना सत दिखाती है, और शरीरको लगनरूपी अग्निकी लपटमें सीताजीकी समान शुद्ध करती है अर्थात् जैसे राव-

णके यहांसे आनकर जानकीने अग्निमें अपना शरीर शोधा था, इसी प्रकार प्यारीभी अब लाज छोड संकेतमें आई है, और तुम्हें सत्त दिखानेको उत्सुक है इससे हे लाल! शीघ्र चलो, और रावणके यहां जानकी जैसे रामका ध्यान करतीथीं इसी प्रकार लाजके वश यहभी तुम्हाराही ध्यान करती है, सो चलकर देखो 'पूर्णोपमालंकार' २९२

नैकु न झुरसी विरह झर, नेहलता कुँभिलाति। नित नित होत हरी हरी, खरी झालरति जाति॥ २९३॥

विरहाग्निकी लपटसे झुलसके प्रेमकी लता कुछभी नहीं कुँभलाती, प्रतिदिन हरी भरी हुई बढती जाती है, झालरति बढती है 'विशेषोक्ति'॥ २९३॥

खल बढई बलकरि थके, कटे न कुवत कुठार। आल बाल उरझालरी, खरी प्रेम तरुडार॥ २९४॥

हे सखी दुष्टरूप बढई बलकर हारगये उनके कुवचन रूपी कुल्हाडेसे नहीं कटता, थांवले रूपी हृदयमें प्रेमवृक्षकी डाल बढतीही जाती है 'रूपक विशेषोक्ति'॥२९४॥

करत जात जेती कठिन, बढिरस सरिता सोत। आल वाल उर प्रेमतरु, तितो तितो दृढ होत॥ २९५॥

रसरूपी नदीका सोता बढकर जितनी काट करता जाता है थांवलेरूप हृदयमें प्रेमका वृक्ष उतना उतनाही दृढ होता जाता है कटन-किनारेका काटना 'विरोधाभास' ॥ २९५ ॥

बाल वेलि सूखी सुखद, इहि रूखे रुख घाम। फेरि डहडही कीजिये, सुरस सींचि घनश्याम ॥ २९६ ॥

बेलीके समान वह सुखदायक बाला तुम्हारे रूखेपनकी धूपसे सूखगई है हे घनश्याम! अब उसे सुरससे सींचकर हरी कीजिये घाम-धूप । घनश्याम कृष्ण वा मेघ। रस-जल और प्रीति। 'परिकरांकुर' ॥ २९६ ॥

देखत दुरै कपूरलौं, उडैजाय जिनलाल। छिन छिन जात परीखरी, छीन छबीली बाल ॥ २९७॥

हे लाल! वह छबीली क्षणक्षणमें क्षीण पडती जाती है, देखते देखते न्यून हुई जाती है, कहीं कपूरके समान उड न जाय विरह निवेदन 'पूर्णोपमा वीप्सा' ॥ २९७ ॥

कहा कहौं वाकी दशा, हरि प्राणनके ईश। विरहज्वाल जरबो लखै, मरिबो भयो अशीस ॥ २९८ ॥

हे प्राणेश्वरहरि! मैं उसकी दशा क्या कहूं विरह

अग्निमें जलता हुआ देख उसके लिये मरनाही आशीर्वाद है 'लेखालंकार' ॥ २९८ ॥

हरि हरि बरि बरि करि उठति, करि २ थकी उपाय। वाको ज्वर बलि वैद ज्यों, तो रस जाय तौ जाय ॥ २९९ ॥

हे प्रीतम ! वियोगमें वह हारि हारि बलि अर्थात् जली २ कह उठती है, हम उपाय कर हार गई उसकी ताप बली वैदकी भाँति तुम्हारे रस ( प्रेमभरे वाक्य पक्षान्तरमें फुंकी धातु ) से जाय तो जाय। 'वृत्त्यनुप्रास और श्लेष' ॥ २९९ ॥

यह विनशत नगराखिके, जगत बड़ो यश लेहु। जरी विषमज्वर जाय यह, आय सुदर्शन देहु ॥ ३०० ॥

यह स्त्रीरूपी रत्न नाश होता हुआ रखकर जगत्में यश लो वियोगरूपी विषमज्वरसे जली जाती है, आनकर अपना सुन्दर दर्शन दीजिये, सुदर्शन चूर्णभी विषमज्वरपर प्रसिद्ध है; सो दर्शनरूपी चूर्ण माँगती है 'श्लेषालंकार' ॥ ३०० ॥

विहारीकी सतसईमें पण्डित ज्वालाप्रसादमिश्रकृत भाषाटीकासहित तीसरा शतक पूर्ण हुआ। ॥ ३ ॥ शुभमस्तु ।

---

नैक न जानी परत यों, परो विरह तनु छाम । उठति दियालों नाहिं हरि, लिये तुम्हारो नाम ॥ ३०१ ॥

वह कुछ भी जानी नहीं जाती विरहसे शरीर उसका क्षीण होगया है परन्तु तुम्हारे नाम लेनेसे दियेके समान चैतन्य हो उठती है । 'उपमालंकार' ॥ ३०१ ॥

मैं ले दयो लयो सुकर, छुवति छनाकि गो नीर । लाल तिहारो अरगजा, उरलगि भयो अबीर ॥ ३०२ ॥

मैंने जो तुमसे लेकर प्रियाको दिया सो उसने सुन्दर हाथमें ग्रहण किया, उसके हाथमें छूतेही पानी जलगया हे लाल ! तुम्हारा दिया अरगजा उसके हृदयमें लगकर अबीर होगया पानी सूखकर श्वेतता होगई विरह वर्णन । "अयुक्तालंकार" ॥ ३०२ ॥

हित करि तुम पठयो लगै, वा विजनाकी वाय । टरी तपन तनुकी तऊ चली पसीना न्हाय ॥ ३०३ ॥

तुमने जो प्रेमकर पंखा भेजा उसकी पवन लगनेसे शरीरकी गरमी तो गई परन्तु पसीनेमें न्हागई सात्त्विक-भाव प्रगट होनेसे पसीना आया । 'पंचम विभावना' ॥ ३०३ ॥

हँसि उतार हियते दई, तुम जो ता दिन लाल।
राखत प्राण कपूरलों, वहै गुंजकी माल २०४

आपने जो हँसकर उस दिन हृदयसे उतारकर माला दी है हे कृष्ण ! वही चौंटलीकी माला उसके प्राणोंको कपूरकी भाँति रक्षा करती है कपूरमें चौंटली रखनेसे कपूर नहीं उडता इसी प्रकार तुम्हारी मालासे उसके प्राण रक्षित हैं। 'काव्यलिङ्ग' ॥ २०४ ॥

होमति सुख कारि कामना, तुमहि मिल-नकी लाल। ज्वालमुखीसी जरत लखि, लगन अगिनिकी ज्वाल ॥ २०५ ॥

हे कृष्ण ! ( वह विरहनी तुम्हारे अनुरागमें ) तुम्हारे मिलनेकी कामनासे सुखको होमती है प्रीतिकी आगकी लपटमें मैंने उसे ज्वालामुखीके समान जलते देखा है अथवा लगनरूपी अग्निकी ज्वाला ज्वालामुखीसी जलती है, 'सविषयसावयव' ॥ २०५ ॥

थाकी यतन अनेक करि, नेक न छाँड-ति गैल। करी खरी दुबरी सुलगी, तेरी चाह चुरैल ॥ २०६ ॥

हम अनेक यत्न करके थकगई, परन्तु वह नेकभी पीछा नहीं छोडती तुम्हारी चाहरूप चुडेलने चिपटकर उसे अति दुर्बल करदिया है ॥ २०६ ॥

लाल तिहारे विरहकी, अगिनि अनूप अपार। सरसे बरसे नीरहूं, झरसे मिटै न झार ॥ ३०७ ॥

हे लाल ! तुम्हारे विरहकी अग्नि अनूप और अपार है बरसे पानीकी भांति बढती है और झडसे लपटभी नहीं मिटती अद्भुत रसमें विरहनिवेदन है 'पंचम विभावना' ॥ ३०७ ॥

जो वाके तनुकी दशा, देखो चाहत आप। तो चलि नेकविलो किये, चलि औचक चुपचाप ॥ ३०८ ॥

हे कृष्ण ! जो उसके शरीरकी दशा आप देखना चाहते हो तो चुपचाप औचक चलकर देखिये [ बलि-बलिहारी जाऊँ ] काव्यलिंग संभावना। आशय यह कि, तुम्हें देख मोटी होजायगी ॥ ३०८ ॥

लई सौंहसी सुननकी, तजि मुरली धुनि आन। किये रहत नितरात दिन, कानन लागे कान ॥ ३०९ ॥

वंशीकी टेर सुनकर मानों और बातके सुननेकी इसने सोगंधसी खा रक्खी है रात दिन वंशीका ध्यान वनकी ओर कान लगाये किये रहते हैं। 'उत्प्रेक्षा' ॥ ३०९ ॥

उर लीने अति चटपटी, सुनि मुरली

धुनि धाय। हौं हुलसी निकसी सुतो, गो हुल-
सी हियलाय ॥ ३१० ॥

मुरलीकी ध्वनि सुन हृदयमें अति चटपटी लिये धाव-
मान हुई ज्यों मैं प्रसन्न हो घरसे निकली सो वह प्रसन्न
हुई मेरी छातीमें हुलसी लगाकर गये । 'जमका-
लंकार' ॥ ३१० ॥

सुनति न तालरुतानकी, उठै न सुर ठहराय।
एरी राग बिगारिगो, बैरी बोल सुनाय ३११

तालके स्वरकी सुरत न रही सुर ठहरके नहीं उठता
एरी सखी वह वैरी अपना बोल सुनाकर मेरा राग बिगाड
गया, अर्थात् स्वर-भंग हुआ और शब्द सुनाकर जो
प्रीतम न ठहरे इससे वैरी कहा । 'छेकानुप्रास' ॥३११॥

चितवन भोरे भायकी, गोरे मुख मुस-
क्यान । लगनि लटकि आली गरे, चित
खटकत नित आन ॥ ३१२ ॥

उसका भोरे भायसे देखना, और गोरे मुखकी मुस-
कान लगना लगाना लटकके सखीके गरे यह बात नित्य
मेरे शरीरमें आनकर खटकती है । 'स्वभावोक्ति' ३१२

क्षण क्षणमें खटकत सुहिये, खरी भीरमें
जात । कही जु चालि बिनही चितै, ओठन-
हीमें बात ॥ ३१३ ॥

क्षण क्षणमें वह बाला मेरे मनमें खटकती है, बडी भीरमें जाते हुए वह देखकर होठोंहीमें बात कह कर चली। 'स्मृति' ॥ ३१३ ॥

चिलक चिकनई चटकसों, लफति सटकलों आय । नारि सलोनी साँवरी, नागनिलों डसि जाय ॥ ३१४॥

चसक चिकनाईकी चटकसे लचकती हुई पतली छडीके समान आकर वह सांवरी सलोनी बाला नागिनिके समान डस जाती है; आशय यह कि, प्रिया विना मन व्यग्र है। 'पूर्णोपमा' ॥ ३१४ ॥

डग कुडगतिसी चलि ठठक, चितई चली निहारि। लिये जात चित चोरटी, वहै गोरटी नारि ॥ ३१५॥

डग मग पैरसे डिगती हुई एक पगसे चल कर ठिठक गई और फिर मेरी ओर देखा, वह चोट्टी गोरी नारी मेरा चित्त चुराये लिये जातीहै। 'स्वभावोक्ति' अथवा ठिठकती हुई थान छूकर चली आधी चितवनसे देखा, इत्यादि ॥

भौंह उँचे आँचर उलटि, मोरि मोरि मुख मोर। नीठ नीठ भीतर गई, दीठि दीठिसों जोर ॥ ३१६ ॥

भौंहकी चेष्टा ऊँची कर आँचरको उलट ऐंडाय जँभा-यकर वा घूमकर-किसी भांति दृष्टिसे दृष्टि जोरकर भीतरको गई। 'स्वभावोक्ति' ॥ ३१६ ॥

रहो मोह मिलनी रहो, यों कहि गहो मरोर। उत दै सखिहि उराहनो, इत चितई मो ओर ॥ ३१७ ॥

अब हमारी तुम्हारी प्रीति और मिलना हो चुका, यों कहकर मरोर की; उधर सखीको उरहना दिया और इधर मेरी ओर देखा। 'गूढोक्ति' ॥ ३१७ ॥

चुनरी श्याम सुतार नभ, मुख शशिकी अनुहारि। नेह दबावत नींदलों, निरखि निसानी नारि ॥ ३१८ ॥

रात्रि और बालाका रूपक, काली चूनरी श्वेत चित्ती-वालीही मानों तारों सहित आकाश है मुख चंद्रमाके समान है, जबसे उस ( निसानी ) रात्रिके समान स्त्रीको देखा है तबसे नींदके समान उसकी प्रीति मुझे अचेत करती है। 'रूपक' ॥ ३१८ ॥

फेर कछू करि पौरते, फिरि चितई, मुस-क्याय। आई जामन लेनको, नेहै चली जमाय ॥ ३१९ ॥

फिर कुछ करके उसने पौरीसे लौट पीछे फिर मुसका-

कर देखा जामन लेनेको आई थी पर प्रीतिको जमा चली । असंगति और 'पर्य्यायोक्ति' ॥ ३१९ ॥

देह लग्यो ढिग गेहपति, तऊ नेह निरवाहि । ढीली अँखियनहीं इतै, गई कनखियन चाहि ॥ ३२० ॥

मेरे शरीरसे लगा हुआ उसका पति मेरे निकट था, तौभी वह अपनी प्रीति निबाह गई, अर्थात् ढीली आंखों सेही कनखियों द्वारा इधर देखगई । 'पंचमविभावना' ॥

लहि सूने घर कर गहो, दिखा दिखीकी ईठि । गड़ी सुचित नाहीं करत, कर ललचौंही दीठि ॥ ३२१ ॥

सूना घर देखकर मेरा हाथ पकड़ लिया, देखादेखीका इष्ट कर हाथ पकड़नेपर वह नाहीं करती है और लालच भरी दृष्टि करके चितमें गड़ी है ॥ ३२१ ॥

कालबूत दूती बिना, जुरै न और उपाय । फिर ताके टारे बनै, पाके प्रेम लदाय ॥ ३२२ ॥

प्रेमरूपी लदावका निर्वाह कालबूतरूप दूतीके बिना और उपायसे नहीं मिलता, और प्रेम लदायके पकनेसे फिर उसका टालनाही बनता है । 'रूपकालंकार' अर्थात् प्रेम उत्पन्न करदेना दूतीका कार्य है प्रेम होजानेपर उसकी आवश्यकता नहीं ॥ ३२२ ॥

तोपर वारों उरवसी, सुन राधिके सुजान ॥
तू मोहनके उरबसी, है उरवसी समान ॥

हे सुजान राधिके ! मैं तुझपर उरवसी बलिहारी करती हूं, तू मोहनके हृदयमें बसी उर्वशीके समान है, यहां उरवसीसे लक्ष्मी और हमेलके समान है जैसे उनके हृदयमें लक्ष्मी निवास करती है इस प्रकार तू है और जैसे छातीपर धुकधुकी होती है ऐसे तेरी सौत है परन्तु तू विशेष है। 'नमक' ॥ ३२३ ॥

तू मोहनमन जडरही, गाढी गढनि गुवालि।
उठै सदा नटसाललों, सौतिनिके उर शालि॥

हे ग्वालिनी ! तू मोहनके मनमें गाढी गडनेसे गडरही है और तू सौतोंके हृदयमें सदा टूटे कांटोंकी भांति कसकती है. अर्थात् गडी तो है मोहनके हृदयमें और कसकती है सौतोंके हृदयमें । 'असंगति अलंकार'॥३२४॥

पिय मन रुचि है वो कठिन, रुचि न होत शृंगार। लाख करो आंखि न बढै, बढै बढाये बार ॥ ३२५ ॥

प्रीतमके मनमें रुचि होनी कठिन है; शृंगारको रुचि नहीं होती. लाख करो आंखि नहीं बढेगी, बढानेसे विलम्ब बढेगा अभिसारके निमित्त देर होतेमें सखी वचन अथवा लाख यत्न करो बढायेसे आंख नहीं बढती परन्तु विलम्ब

बढता है-आशय यह कि, बाला सौतनको शृंगार करते देख मनमें विचारने लगी कि, प्रीतमका मन इससे न लगजाय उसपर सखीने सावधान किया। 'दृष्टान्तालंकार' ॥ ३२५ ॥

जालरंध्र मग अगनिको, कछु उजाससों पाय। पीठ दिये जगसों रहै, दीठि झरोखा लाय ॥ ३२६ ॥

झरोखोंके छिद्रोंके मार्गमें कुछ उजालासा पाकर झरोखेमें दृष्टि लगाय जगके लोगोंसे मुख फेरे रहती है, आशय यह कि, सबसे मुख फेर आपहीके देखनेकी अभिलाषा किये रहती है। 'परिसंख्या' ॥ ३२६ ॥

यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि, सगुनो दीपक देह। तऊ प्रकाश करै तितो, भरिये जितो सनेह ॥

प्रीति बढानेका कारण सुन्दर घर ( घट ) गुणसहित है और दीपकसी देह है तौभी उतनाही प्रकाश करता है जितना उसमें तेल ( प्रेमसे नेह ) डाला जाय गुणकका अर्थ बत्ती और गुन है। 'श्लेषरूपकालंकारसंकर' ॥ ३२७ ॥

शनि कज्जल चख झख लगनि, उपजो सुदिन सनेह। क्यों न नृपति है भोगये, लहि सुदेश सब देह ॥ ३२८ ॥

काजलकी शनि, नेत्र मछली अर्थात् मीन लग्नमें

अच्छे दिनमें सनेह हुआ, फिर तू राजा होकर इसके शरीररूपी सुन्दरदेशका भोग क्यों नहीं करे, यह लग्न ग्रह इस निमित्त भले हैं 'रूपकालंकार' ॥ ३२८ ॥

लखि लौने लोयननिपै, कोयन होय न आज। कौन गरीब निवाजिबो, कित तूठो रतिराज ॥ ३२९ ॥

इन नेत्रोंके सलोने कोयोंको देखकर कौन वशीभूत न होगा आज किस गरीबको निवाजोगे, आज कामदेव किधर संतुष्ट हुआ तूठा-तुष्ट हुआ कुलटावाला। 'वृत्त्यनुप्रास' ॥ ३२९ ॥

लागत कुटिल कटाक्ष शर, क्यों न होय बेहाल। निकसत हियो दुसाल कर, तऊ रहत नटसाल ॥ ३३० ॥

यह कुटिल कटाक्षके बाण लगनेसे क्यों न प्रीतम बेहाल हों यद्यपि कलेजेमें लगकर पार होजाते हैं, तोभी फाँसकी समान खटकते हैं। 'विभावना' ॥ ३३० ॥

नागरि विविध विलास तजि, बसी गवेंलन माँहि। मूढोंमें गनिबो करै, हूठो दे अठिलाहि ॥ ३३१ ॥

हे नागरि। तू अनेक विलास त्यागन कर गँवारियोंमें आनकर बसी है यह तुझे मूर्खोंमें गिनकर धक्का दे इठ-

लाती है । 'पर्यायोक्ति' प्रिया मानकर गँवारियोंमें जाबैठी वहां सखीने कहा ॥ ३२१ ॥

रही लटू ह्वै लालहों, लखिबो बाल अनूप ।
कितो मिठास दियो दई, इते सलौने रूप ॥

हे लाल ! मैंभी तो उसका अनूपरूप देखकर लटू होगई, विधाताने उसके सलोने रूपमें कितना मिठास दिया है । 'विरोधाभास' ॥ ३२२ ॥

तीजपरब सौतिन सजै, भूषण वसन शरीर ।
सबै मरगजे मुखकरी, वही मरगजे चीर ॥

सावनकी तीजके त्योहारमें सोतोंने शरीरपर भूषण वस्त्र सजाये, परन्तु प्यारीने उसी मिलगिजे वस्त्रसे सबका मुख मर्दित करदिया, अर्थात् जो बात और शृंगार करके नहीं प्राप्त करसकती, वह यह मिलगिजे वस्त्रसे करती है ३२३

सोहत धोती श्वेतमें, कनकवरण तनु बाल ।
शारदवारद बीजरी, भारद कीजतु लाल ॥

हे लाल ! श्वेत धोतीमें उस बालाका सुवर्णके समान शरीर शोभायमान होता हुआ शरद् ऋतुके मेघोंमें बिजुलीकी शोभाको मात करताहै । प्रतीप और वृत्त्यनुप्रास ॥ ३२४ ॥

हों रीझी लखी रीझि हो, छबिहि छबीले लाल । सोनजुहीसी होति द्युति, मिलत मालती माल ॥ ३२५ ॥

मैं तो रीझीहूं और तुमभी उसकी छबिको देखकर रीझोगे हे छबीले लाल! चमेलीकी माला पहरनेसे उसकी शोभा सोनजुहीसी होती है। तद्गुणालंकार ॥ २३५ ॥

क्षणक छबीले लाल वह, ज्यों लगि नाहिं बतराय । ऊष मयूख पियूषकी, तो लगि भूँख न जाय ॥ २३६ ॥

हे छबीले कृष्ण! एक क्षणको जब तक वह नहीं बोलती तब तक गन्ना, मधु और अमृतरसकी भूंख नहीं जाती। वृत्त्यनुप्रास ॥ २३६ ॥

टोरी लाई सुननकी, कहि गोरी मुसकात । थोरी थोरी सकुचसों, भोरी भोरी बात २३७

मुग्धाकी बात सुननेकी रट लगाई प्रीतम मुसकराता है और गोरी बाला थोरी थोरी सकुचसे भोरी भोरी बात कहती है। छेकानुप्रास और वीप्सा ॥ २३७ ॥

नेको उहि न जुदी करी, हरष जु दी तुम माल । उरते बास छुटो नहीं, बास छुटेहू लाल ॥ २३८ ॥

जो माला तुमने प्रसन्न होकर उसे दी उसे उसने क्षण मात्रकोभी हृदयसे अलग न किया, हे लाल! उसकी सुगंधि जाती रही परन्तु हृदयसे उसका वास न छूटा। यमक ॥ २३८ ॥

मोहिं भरोसो रीझि हैं, उझक झांकि इकबार।
रूप रिझावनहार यह, ये नैना रिझवार ३३९

मुझे भरोसा है कि, तू एकहीबार उझककर झांकेगी तो रीझेगी अर्थात् एकबार तू खिडकीमें झांककर तो देख उनका रूप रिझानेवाला है, और तेरे नेत्र रीझनेवाले हैं। समालंकार ॥ ३३९ ॥

ल्याई लाल विलोकिये, जियकी जीवनमूल।
रही भौनके कोनमें, सोनजुहीसी फूल ३४०

हे कृष्ण ! मैं ले आईहूं चलकर अपनी जीवनमूलको देखिये वह भवनके कोनेमें सोनजुहीसी फूल रही है। उपमा ॥ ३४० ॥

नहिं हरिलौं हियरा धरो, नहिं हरलौं अरधंग। एकतहीं करि राखिये, अंग अंग प्रति अंग ॥ ३४१ ॥

हे कृष्ण ! न तो विष्णुके समान उसके हृदयपरही लक्ष्मीके समान रक्खो न शिवके समान अर्धंग धारण करो किन्तु उसके अंग अंग अपने अंग अंग मिला रखिये। दूषणोपमा ॥ ३४१ ॥

रही पैज कीन्ही जु मैं, दीन्ही तुम्हें मिलाय। राखो चम्पक मालसी, लाल हिये लपटाय ॥ ३४२ ॥

जो मैंने पैज की थी सो पूरी की, तुम्हें मिलादिया हे लाल ! अब चम्पकमालासी हृदयमें लगाकर इसे रक्खो । उपमेयलुप्तालंकार ॥ ३४२ ॥

कैआरावत यहि गली, रहे चलाय चलै न । दरशनकी साधे रही, सूधे रहत न नैन ३४३ ॥

हे प्यारी ! मैंने उन्हें कईबार इस गलीमें आते देखा चलनेकी इच्छा करैं पर न चलैं दर्शनकी अभिलाषा करते हैं इस कारण नेत्र सूधे नहीं रहते आशय यह कि, जब वह गलीमें आते हैं तब तो सूधे नेत्र मन्दिरके सन्मुख लगे रहते हैं और जब मंदिरसे आगे चलते हैं तब मंदिरकी ओर होजाते हैं । हेतु अलंकार ॥ ३४३ ॥

स्वप्नदर्शन ।

देख्यो जागत वैसिये; सांकर लगी कपाट । कित है आवत जात भजि, को जाने केहि बाट ॥ ३४४ ॥

जागते हुए देखा कि, किवाँडमें वैसीही सांकर लगी है कौन जाने किधर होकर आते हैं और किस मार्गसे भगजाते हैं । विभावना ॥ ३४४ ॥

सुखसों बीती सब निशा, मनु सोये इकसाथ । मूकामेलि गह्यो जु छिन, हाथ न छोडत हाथ ॥ ३४५ ॥

सारी रात सुखसे बीती मानो एक साथही सोये हैं मूकेमें डालकर हाथ जो पकडा सो एक क्षणमात्रको भी नहीं छोडा-मोखा भट्टा अथवा स्वप्न उनको देखतेमें सुखसे सब रात बीती मानों एक साथही सोये हैं अपने हाथ-सेही जो अपना हाथ पकडा उसे उनका जानकर एक क्षणमात्रको न छोडा। उत्प्रेक्षा॥ ३४५॥

दुचितै चित हलति न चलति, हँसति न झुकति विचारि। लिखित चित्र पिय लखि चितै, रही चित्रलों नारि॥ ३४६॥

चित्त दुचिताईमें होरहा है न हलती है न चलती है न हँसती है न विचारकर क्रोध करती है प्रीतमको चित्र लिखता देख प्यारी स्वयं चित्रके समान होगई दुचिते मन इस कारण है कि, मेरी मूर्त्ति लिखै हैं वा अन्यकी हलने चलनेकी आहट होगी इस कारण नहीं हिलती अपनीही है यह निश्चय न होनेसे हँसती नहीं, और दूसरीकी कदाचित् न हो यही विचार क्रोध नहीं करती। संशयालंकार॥ ३४६॥

कर मुँदरीकी आरसी, प्रतिबिम्बो पिय आय। पीठ दिये निधरक लखै, इकटक दीठि लगाय॥ ३४७॥

हाथकी अँगूठीकी आरसीमें प्रीतमका प्रतिबिम्ब

आनकर पड़ा उसको पीठ दिये निधड़क इकटक दृष्टि लगाये देखरही है। प्रहर्षणालंकार ॥ ३४७ ॥

ध्यान आनि ढिग प्राणपति, मुदित रहत दिनरात। पल कम्पित पुलकत पलक, पलक पसीजत जात ॥ ३४८ ॥

प्राणपतिको ध्यानमें ही अपने निकट लाकर दिनरात प्रसन्न रहती है पलमें पुलकायमान होती काँपती और पलमें पसीजती है। स्मृति अलंकार ॥ ३४८ ॥

पियके ध्यान गही रही, रही वही है नारि। आप आपही आरसी, लखि रीझति रिझवारि

प्रीतमका ध्यान धर धरकर वह स्त्री आपही आप होकर रही और वह रिझवार आपही अपनी आरसीको देख रीझने लगी। तद्गुणालंकार ॥ ३४९ ॥

लाल तिहारे रूपकी, कहो रीति यह कौन। जासों लागै पलकदृग, लागत पलक पलौ न ॥ ३५० ॥

हे लाल! कहो तो तुम्हारे रूपकी यह कोनसी रीति है जिस जिससे एक पल नैन लगते हैं उसकी पलक फिर एक पलको नहीं लगती। विरोधाभास ॥ ३५० ॥

अपनी गरज न बोलियत, कहा निहोरो तोहि। तू प्यारो मो जीयको, मोजी प्यारो मोहि ॥

अपनी गरजसे बोलते हैं इससे मेरा क्या निहोरा है तुम मेरे जीके प्यारे हो और तुम्हें मेरा जी प्यारा है। काव्यलिंग ॥ ३५१ ॥

तोही निरमोही लग्यो, मोही यहै सुभाय। अन आये आवै नहीं, आये आवत आय ३५२

तुम्हारा मन निर्मोही है, तुमसे मेरा मन लगगया है मेरे मनका यह स्वभाव हुआ कि, तुम्हारे पास रहकर विना तुम्हारे आये नहीं आता, और आनेसे आता है इससे तुम आओ। जमक ॥ ३५२ ॥

छुटन न पैयत क्षणकवश, नेहनगर यह चाल। मारे फिर फिर मारियत, खूनी फिरत खुसाल ॥ ३५३ ॥

नेहनगरकी यह चाल है कि, इससे एक क्षणको छुटकारा नहीं होता, मरा हुआ फेर फेरकर मारा जाता है और मारनेवाला प्रसन्न फिरता है। असंगति ॥ ३५३ ॥

निरदय नेह नयो निरखि, भयो जगत भयभीति। यह अबलों न कहूं सुनी, मरे मारियत भीति ॥ ३५४ ॥

निर्दयतायुक्त नेह देखकर जगत् भयभीत होगया है यह बात अबतक कहीं नहीं सुनी कि, मरे हुए मित्रको फिर मारे। पर्यायोक्ति ॥ ३५४ ॥

दुख दायिनि चरचा नहीं, आनन आनन आन। लगी फिराति ढूकादिये, कानन कानन कान ॥ ३५५ ॥

दुःखदायिनियोंके मुखसे और चरचा नहीं है सौगंध कर कहती हूं मेरे पीछे छिपी हुई फिरती हैं कुंजवनमें कान लगाये रहती हैं कानन--वन । आनन--मुख। आन सौगंध । जमक और वीप्सा ॥ ३५५ ॥

बहके सब जियकी कहत, ठौर कुठौर गिनै न। छिन औरे छिन औरसे, भे छबिछाके नैन ॥ ३५६ ॥

बहके हुए सब जीकी बात कह देते हैं, ठौर कुठौर नहीं गिनते, यह प्रीतमकी छबिसे छके नैन छिनमें और, और छिनमें और होते हैं। भेदकातिशयोक्ति० ॥ ३५६ ॥

नेक उतै उठि बैठिये, कहा रहे गहि गेहु। छुटी जात नहँदी छिनक, महँदी सूखन देहु॥

नेक उधरको उठ बैठो क्या घर पकडे हुएसे बैठे हो नखमें दी हाथसे महँदी छुटी जाय है तनक उसे सूखने तो दो, आशय यह कि, तुम्हें देख सात्त्विक होता है सो सात्त्विक हो हाथ पसीजते हैं तुम उठ जाओ तो महँदी सूखे। हेतु विकृति० ॥ ३५७ ॥

चितवानि रूखे दृगनिकी, हाँसी बिन

मुसिकान। मान जनायो मानगी, मानलियो पिय जान ॥ २५८ ॥

सूखे नेत्रोंकी चितवन और बिनमुसकानकी हांसीसेही प्रीतमको माननीने मान बताया, और चतुर प्रीतमने जानलिया। छेकानुप्रास ॥ २५८ ॥

पति ऋतु अवगुण गुणबढत, मान मॉह को शीत। जात कठिन है अतिमृदौ, रमणी मन नवनीत ॥ २५९ ॥

पतिके अवगुणसे मान और ऋतुके गुणसे माहका शीत बढता है रमणीका मन और मक्खन अति कोमल है तथापि कठिन होजाता है। दृष्टान्तरूपक ॥ २५९ ॥

वाही निशितें ना मिटो, मान कलहको मूल। भले पधारे पाहुने, है गुडहरको फूल ॥ २६० ॥

उसी रातसे क्लेशका मूल मान नहीं मिटा गुडहरके फूलके समान होकर पाहुने भले पधारे हैं आशय यह कि, रातको कहीं और रहकर सबेरेको रति चिह्नसे युक्त माथेपर महावर पलकोंमें पीकादि लगाकर प्रीतम आये इस कारण गुडहरका फूल कहा है कि, जहां यह रहता है वहां क्लेश रहता है वाच्यकलुसा लोकोक्ति ॥ २६० ॥

खरे अदब अठिला हटी, उर उपजावत

त्रास। दुसहशंक विषकी करै, जैसे सोंठ मिठास॥ ३६१॥

प्यारीका सभ्यतासे इठलानाभी मेरे मनमें दुःख उपजाता है जैसे सोंठका मिठास विषकी दुःसह शंका उत्पन्न करता है सोंठका मिठास विषयुक्त जानना। दृष्टान्त ३६१

दोऊ अधिकाई भरे, एक गो गहराय॥ कौन मनावै को मनै, मानै मति ठहराय॥ ३६२॥

दोनों पियप्यारे गर्वभरे एकही गौंकी बात करते हैं कौन मनावे कौन मने जब इनकी मति ठहरावेगी तब आपही मनेंगे प्रणयके कलहको मान कहते हैं। काव्यलिंग॥ ३६२॥

हँसि हँसाय उर लाय उठि, कहि न रुखौं है बैन। जकित थकितसे ह्वै रहे, तकत तिरीछे नैन॥ ३६३॥

हँसकर हँसाकर उसे हृदयसे लगाय उठ रूखे वचन मत कहे देख जकड़े और थकेसे होकर तेरे तिरछे नेत्रोंसे प्रीतम देखरहे हैं वृत्यनुप्रास॥ ३६३॥

मान करत बरजत नहीं, उलट दिवावत सौंह। करे रिसौंहीं जायगी, सहज हँसौंहीं भौंह॥ ३६४॥

मान करतेमें बरजती नहीं और उलटी सौंह दिवाती है क्या तुम यह स्वभावसे हँसोही भौंहें रिसभरी करेही जाओगी मान दृढ करनेको सखीने यह वचन कहे। काकोक्ति छेकानुप्रास ॥ ३६४ ॥

जो चाहत चटक न घटै, मैलो होय न मित्त । रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ॥ ३६५ ॥

हे मित्र ! जो तुम चाहो कि, प्रेमकी चमक न घटे और मित्रका मन अप्रसन्न न हो तो नेहसे चिकने हुए चित्तमें रजोगुणकी धूरि मत छुवाओ आशय यह कि प्रीतमपर आज्ञाबल मत चलाओ श्लेषालंकार ॥ ३६५ ॥

सोहैं हूं चाह्यो न तैं, किती दिवाइ सौंह ॥ एहो क्यों बैठी किये, ऐंठी ग्वैंठी भौंह ॥ ३६६ ॥

तैंने मानसे प्रीतमके सन्मुखभी न देखा, मैंने कितनी सोगंधभी दिवाई, फिर अब क्यों टेढी गठीली भौंह किये बैठी है । वृत्यनुप्रास ॥ ३६६ ॥

खरी पातरी कानकी; कौन बहाऊ बानि। आककलीन रलीकरे, अली अली जिय जानि ३६७ ॥

हे सखी ! तू कानकी बहुत हलकी है जो कोई बात कहे उसे तू मान जाय है इस तेरी बान स्वभावमें बहाके

हे आली! तू अपने मनमें विचार करले कि, भौंरा आ, ककी कलीसे विहार नहीं करता है नायकको अन्यसे रति करनेवाला जान प्यारीने मान किया इसपर सखीने समझाया। छेकानुप्रास जमक ॥ ३६७॥

तो रस राच्यो आन वश, कहै कुटिल मति कूर। जीभ निवौरी क्यों लहै, बौरी चाख अंगूर ॥ ३६८॥

वह तो तेरे रसमेंही रँगरहे हैं उन्हें औरके वश किसी खोटे मतिवाले क्रूरने कहाहै यह सत्य मत जाने, हे बावली! जिसने अंगूर खाये हैं इसकी जीभमें निबोली क्यों भावेगी। न्यासालंकार ॥ ३६८ ॥

गहिरी गरब न कीजिये, समय सुहागहि पाय। जीकी जीवन जेठलों, माह छांह सुहाय॥ ३६९ ॥

हे मानिनी! समय सुहाग पाकर बहुत मान मत करो जेठ महीनेकी जीकी जीवन छाया माहमें अच्छी नहीं लगती गहरी-वा गहली-मानिनी। दृष्टान्तालंकार ३६९

बहाकि बडाई आपनी, कत राचत मति-भूल। बिन मधु मधुकरके हिये, गडै न गुड-हर फूल ॥ ३७० ॥

बहककर अपनी बडाईसे हे मतिभूल ! क्यों प्रसन्न होती है 'सुन्दरभी है परन्तु' रसके विना भौंरेके हृदयमें गुडहरका फूल नहीं भाता 'अथवा यह मतिकी भूल है जो अपनी बडाईसे प्रसन्न होय है माननीके निकट सौत प्रसन्न हो आकर बैठी थी उसपर सखीने कहा, ' अथवा मूर्खोंमें अपनी बडाईसे प्रसन्न होनेपर । अन्योक्ति ३७०

अनियारे दीरघ नयन, किती न तरुणि समान । वह चितवनि और कछू, जिहिं वश होत सुजान ॥ ३७१ ॥

नोकीले और दीर्घनेत्रोंकी कितनी एक स्त्री समान होती है परन्तु जिसके वश चतुर होते हैं वह चितवन कुछ औरही है । भेदकातिशयोक्ति ॥ ३७१ ॥

हाहा वदन उघार दृग,सफल करै सब कोय । रोज सरोजनके परै, हँसी शशीकी होय ॥

रात्रिके समय दूतीने प्यारीसे कहा, हा कष्ट ! अथवा हाहा खाऊं तनक मुख तो उघार सबही कोई अपने नेत्र सफल करें तेरे मुख उघाडनेसे कमलोंको शोक होगा और चन्द्रमाकी हँसी होगी आशय यह है कि, तेरे मुख-चंद्रसे कलंकित चंद्र हास्यको प्राप्त होगा कमल कुंभि-लायेंगे तेरा मान छुटनेसे मुख उघडेगा तो यह सब बातें होंगी ॥ ३७२ ॥

कहा लेहुगे खेलमें,तजो अटपटी बात। नेक हँसौहीं है भई, भौंहें सौहें खात ॥ ३७३ ॥

खेलमें क्या लोगे अपनी अटपटी बात छोडो मेरे शपथ करते करते प्यारीकी भौंहें कुछ हँसौहीं हुई हैं आशय यह कि, प्रीतम मनाने आये तो दूसरीकाही नाम निकल गया इससे फिर प्यारी रूठी इसपर सखीने हँसीमें डालकर कृष्णसे कहा ये चिढानेकी बातें छोडदो । हेतु॥

चलो चले छुटि जायगो, हठि रावरो सँकोच। खरे चढाये होत अब, आये लोचन लोच ॥ ३७४ ॥

हे प्रीतम ! चलो तो आपके चलनेसे सब हठ छुट जायगी तुम्हारे संकोचसे जो अति चढाये थे वे नेत्र अब नरमीपर आये हैं अर्थात् इस समय कुछ क्रोध न्यून हुआ है चलनेका समय है शीघ्र चलो ॥ ३७४ ॥

अनरसहूँ रस पाइये, रसिक रसीली पास। जैसे सांठेकी कठिन, गाँठें भरी मिठास ॥ ३७५ ॥

हे प्रीतमरसिक । उस रसीलीके पास चलनेसे अनरसमें भी रस पाओगे जैसे गन्नेकी गांठें कठिन हैं परन्तु मिठाससे भरी हैं आशय यह कि, उसका मानभी देख प्रसन्न होगे । दृष्टान्तालंकार ॥ ३७५ ॥

क्योंहूँ सब बात न लगै, थाके भेद उपाय ॥ हठ दृढ गढबैठी सुचालि, लीजे सुरँग लगाय ॥ ३७६ ॥

किसी प्रकारकी हमारी बलकी बात नहीं लगती, हम भेद और उपायसे हारगईं, वह हठ दृढ किया ग्रहण कर बैठगई है उसे सुरँग लगाय कर लीजे । भेद–साम दाम दण्ड भेद यह चार है ॥ ३७६ ॥

सकत न तव ताते वचन, मो रसको रस खोय । क्षण क्षण औटे क्षीरलों, खरो सवादल होय ॥ ३७७ ॥

शठ नायकका वचन अधीरा माननी नायकासे, तेरे तत्ते वचन मेरे अनुरागके स्वादको नहीं दूर कर सकते मेरा प्रेम क्षण क्षणमें औटे दूधके समान अति स्वादिष्ठ होता है अर्थात् मानिनी उसको दुर्वचन कहती है और वह उसको सुन प्रसन्न होताहै । उपमालंकार ॥ ३७७ ॥

सकुचि न रहिये श्याम सुनि, यह सतरोहे वैन । देत रचौहे चित कहैं, नेह नचौहें नैन ॥ ३७८ ॥

हे श्याम ! यह सतरोहे क्रोधके वचन सुनकर संकोचित होकर न रहिये प्रेमसे रंगे नेत्रही कहे देते हैं कि, चित्त प्रेमसे रचाहा है ॥ ३७८ ॥

आये आप भली करी, मेटन मान मरोर। दूर करो यह देखि है, छला छिगुनियां छोर ॥ ३७९ ॥

आप मानकी मरोर मेटनेको आये यह बहुत अच्छी करी परन्तु यह जो किसी अन्य प्रियाका छल्ला अपने हाथकी कन उँगलीके छोरमें पहर आये हो इसे दूर करो नहीं तो प्रिया इसको देखलेगी तुम्हारा होता तो उँगलीमें भर आता। विषमालंकार ॥ ३७९ ॥

सीरे जतननि शिशिरऋतु, सहि विरहन तनु ताप। बसवेको ग्रीषमदिनन, परो परोसिन पाप ॥ ३८० ॥

प्रोषितपतिकाकी दशा वर्णन, हे कृष्ण! अगहन पूसके दिनोंमें शीतल उपचारोंसे वियोगिनीके शरीरकी अग्नि सहन करली अब ग्रीष्म ज्येष्ठ आषाढके दिनोंमें परोसियोंको निवास करनेको दुःख पडा है। अयुक्तालंकार, शिशिरऋतु पूस माह ॥ २८० ॥

आडे दे आले वसन, जाडेहूकी रात। साहस कैकै नेहवश, सखी सबै ढिग जात ॥ ३८१ ॥

जाडेकी भी रातमें बीचमें गीले कपडेकी आड कर प्रेमके मारे बडा साहस करके सब सखी, उसके निकट जाती हैं अर्थात् उसके तनुकी विरहाग्निसे जली जाती हैं। अयुक्तालंकार ॥ ३८१ ॥

औंधाई सीसी सुलखि, विरहबरी विललात।
बीचै सूख गुलाब गो, छींटो छुई न गात ३८२

हे प्रीतम ! एक सखीने जो उलटकर सीसी उसके शिरपर डाली अर्थात् विरहसे विकल हो विल्लाते हुए सीसी लुढकाली बीचमेंही गुलाब सूखगया उसके शरीरमें छींट भी न लगी। अयुक्तालंकार ॥ ३८२ ॥

जेहि निदाघ दुपहर रहै, भई माघकी रात। तेहि उशीरकी रावटी, खरी आवटीं जात ॥ ३८३ ॥

जेठकी दुपहरी जिस खसके बंगलेमें माघकी रात हुई रहै उस खसके बंगलेमें वियोग अग्निके मारे वह अत्यन्त औटा जाता है, एक विरह और दूसरी खसकी रावटी यह दोनों उद्दीपन हैं। विभावना छेकानुप्रास ३८३

विकसित नववल्ली कुसुम, निकसत परिमल पाय। परसिय जारति विरह हिय, बरसि रहेकी बाय ॥ ३८४ ॥

यद्यपि खिलते हुए नई बेलके फूलोंको परसकर सुगंधित हो निकलती है, और बरसेके पीछेकी शीतल पवनभी है तथापि स्पर्श करते ही विरही जनोंके हृदयको जलाती है बरनेसे शीतल पुष्पोंमें लगनेसे सुगंध और बेलोंके पत्तोंमें रुककर आनेसे मन्द है। हेतु अलंकार॥

बिरहबरी लख जोगननु, कह्यो सो उहि कैबार। अरी आव भज भीतरे, बरसत आज अँगार ॥ ३८५ ॥

बिरहबरीने पटबीजनोंको देखकर के बार यह बात सखीसे कही अरी आउ, भजिया आज अँगारे भीतरहीं बरसते हैं। भ्रान्ति अलंकार ॥ ३८५ ॥

धुरवा होय न अलि उठै, धुआँ धरनि चहुँ कोद। जारत आवत जगतको, पावस प्रथम पयोद ॥ ३८६ ॥

हे सखी! यह बादल नहीं है पृथ्वीके चारों ओर धुआं उठरहा है यह श्रावणका पहला मेघ जगत्को जलाता आता है। अपह्नुति ॥ ३८६ ॥

पावक झरतें मेहझर, दाहक दुसह विशेषि। दहै देह वाके परश, याहि दृगनकी देषि ॥

हे सखी! अग्निकी झरसे मेघकी झर विशेषकर दुःसह जलानेवाली है; उसके छूनेसे देह जलता है इसके तो नेत्रोंके देखनेसेही जलता है। व्यतिरेक जमक ॥ ३८७ ॥

मार सुमार करी खरी, अरी मरीहि न मारि। सींचि गुलाब घरी घरी, अरी बरीहि न बारि ॥ ३८८ ॥

एक तो कामने तीक्ष्ण मार करके उसे अति व्याकुल किया है दूसरे तू घडी घडी गुलाब छिडककर बलती हुई-को मत बाले ' मरीही न मारि' इस प्रकार मरी हुईको मत मारै । वृत्त्यनुप्रास व्याघात ॥ २८८ ॥

अरे परे न करै हियो, खरे जरेपर जार । लावत घोरि गुलाबसो, मलय मिलै घनसार॥२८९॥

अरे इसे परे क्यों नहीं करता, अति जले हुए हृदयको क्यों जलाता है जो गुलाबसे मिला चन्दन और कपूर घोल कर लाता है आशय यह कि, एक तो मैं विरहसे जलूंहूं दूसरे यह उद्दीपन पदार्थ औरभी दुःख देते हैं । विषमालंकार ॥ २८९ ॥

कौन सुनै कासों कहौं, सुरत विसारी नाह । बदा बदी जिय लेत है, एबदरा बदराह ॥

मेरा दुःख कौन सुने मैं किससे कहूं प्रीतमने सुरत विसार दी है; होडा होडी करके यह कुचाली बादल मेरा जी लेते हैं; कारण यह कि, कुपथगामी निर्दयी होते हैं यह निर्दयीही मेरा जी लेते हैं । जमकालंकार ॥ २९० ॥

फिर सुधि दे सुधि द्याइये, यह निरदई निरास। नई नई बहुरौं दई, दई उसास उसास॥२९१॥

फिर सुधि देकर इस निर्दयी निराशने प्रीतमकी याद दिलाई फिर इसने नई नई सांस उकासदी हैं । वीप्सा जमक अलंकार ॥ २९१ ॥

बन बाटन पिक बटपरा, तकि बिरहिन मत मैन। कुहो कुहो कहि कहि उठत, करि करि राते नैन ॥ ३९२ ॥

कामदेवकी ओरका पिकरूपी बटमार वनके मार्गमें विरहियोंको देखकर लाल आँखें करकर कुहो कुहो कह उठता है। रूपकालंकार ॥ ३९२ ॥

दुसह विरह दारुण दशा, रही न और उपाय। जात जात जिय राखिये, पियकी बात सुनाय ॥ ३९३ ॥

दुसह विरहकी दारुण दशामें अब और उपाय नहीं रहा प्रीतमकी बात सुनाकर जाते जाते जियको राखिये। पर्यायोक्ति ॥ ३९३ ॥

कहे जु वचन वियोगिनी, विरहविकल अकुलाय। कियेनको अँसुआं सहित, सोवत बोल सुनाय ॥ ३९४ ॥

उस वियोगिनीने जो विरहसे व्याकुल हो चिल्लाकर वचन कहे हैं उनको सोनेको जातेमें सुनाकर किसको आंसूसहित नहीं किया अर्थात् उसके शयन समय उसके दुःखकी कथाको सुनकर सब रोने लगते हैं ॥ ३९४ ॥

सोरठा—मैं लखि नारी

निरधार यह । वहई रोगनिदान, वहै वैद्य औषधि वहै ॥ २९५ ॥

मैंने उसकी नाडी देखकर ज्ञानसे यह निश्चय कररक्खा है वही इसके रोगका निदान ( आदि कारण ) वही वैद्य और वही औषधि है अर्थात् वह मिलें तो रोग जाय । हेतु ॥ २९५ ॥

विरह सुखाई देह, नेह कियो अति डहडहो । जैसे बरसे मेह, जरै जवासो जर जमै ॥ २९६ ॥

वियोगने देह सुखा रक्खी है प्रीतिने डहाडहा कररक्खा है जिस प्रकार मेघ बरसनेसे जवासा सूखता है परन्तु उसकी जड डहडही होतीहै । दृष्टान्त ॥ २९६ ॥

दो०—कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ । उडी जात कितहू गुडी, तऊ उडायक हाथ ॥ २९७ ॥

क्या हुआ जो इस समय हम बिछडते हैं मेरा मन तो तुम्हारे साथ है कनकैया किधरकोही उडे परन्तु उडानेवालेकेही हाथमें रहती है । दृष्टान्तालंकार ॥ २९७ ॥

विरहविथा जल परस बिन, बसियत मो जियताल । कछु जानत जल थम न विधि, दुर्योधनलों लाल ॥ २९८ ॥

विरहकी विथाके जलको स्पर्श किये विना मेरे जीरूपी सरोवरमें आप निवास करते हो हे लाल! क्या आप दुर्योधनके समान कुछ जलथंभनाविधि जानते हो जिससे मेरे मनरूपी सरोवरकी विरहाविथा तुमको नहीं व्यापती। पूर्णोपमा ॥ ३९८॥

सोरठा।

पावस काठिन जु पीर, अबला क्यों कर सहि-सकै। तौऊ धरत न धीर, रक्तबीजसम अव-तरै ॥ ३९९ ॥

वर्षाऋतुकी कठिन पीडाको अबला किस प्रकार सहन करसकती है इसमें तो उनकाभी धीर नहीं रहता जिनका रक्त और बीज समान ( नपुंसक ) है स्त्रीका रज थोडा पुरुषका वीर्य अधिक होनेसे पुरुषवीर्य न्यूनहोनेसे कन्या समान होनेसे नपुंसक होताहै। दृष्टान्त ॥ ३९९ ॥

बिजुरा जनु मेह, आन यहां विरहा धरो। आठों याम अछेह, दृग जु बरत बरसत रहत ॥ ४०० ॥

बिजलीके साथमें मेघ लाकर मानों विरहने यहां रख दिया है जो निरन्तर आठों पहर नेत्र बलते और बरसते रहते हैं। वस्तूत्प्रेक्षालंकार ॥ ४०० ॥

इति श्रीकविवर विहारीलालकी सतसईमें भाषाटीकासहित चतुर्थ शतक पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

सोरठा ।

कौडा आंसूबूंद, करि सांकर वरुनी सजत । कीने बदनहि मूंद, दृग मलंग डोरे रहत ॥ ४०१ ॥

आंसुओंकी बूंद वडी कौडी किये जलसहित वरुनियोंकी शृंखलासे कसकर मुख बंदकर नेत्ररूपी हठयोगी डोरे पर रहते अर्थात् लटकते हैं बडी आंखको कौडीसी आंख और बडे नेत्रको कौडीसे नेत्र कहते हैं । सांकर-जंजीर । मलंग-फकीर योगी ॥ ४०१ ॥

दोहा ।

कागजपर लिखत न बनत, कहत सँदेश लजात । कहिहै सब तेरो हियो, मेरे हियकी बात ॥ ४०२ ॥

प्रोषितपतिकाका संदेशा सखीसे, हे सखी ! कागजपर लिखते नहीं बनता और संदेशा कहतेमें लाज आती है तेरा हृदयही सब मेरे मनकी बात कह देगा अपने मनके दुःखसे मेरा दुःख जानना । परिसंख्यालंकार ॥ ४०२ ॥

तर झुरसी ऊपर गरी, काजल जल छिरकाय । पिय पाती बिनहीं लिखी, बाँची विरहनलाय ४०३ ॥

जिस समय विरहाग्निसे भरी प्रोषितपातिका स्वामीको पत्री लिखने बेठी तो उसके हाथकी अग्निसे तरेसे झुरसी और रुदन करनेसे आंखोंके काजलसहित आंसू गिरनेसे ऊपरसे गरी निदान प्यारीकी विनाही लिखी पत्रीमें पतिने उसका विरहदुःख बांचलिया । अनुमान अलंकार ४०३

विरहविकल बिनही लिखी,पाती दई पठाय ॥
अंक बिहूनी यों सुचित, सूने बांचतु जाय ॥

विरहकी व्याकुलताके कारण प्यारीने विना लिखीही पत्री भेजदी । वह अक्षरसे रहित है तथापि चित्त देकर प्रतिम सूनेही बांचते जाँय हैं आशय यह कि, पत्री पीतेही प्यारीकी सब विपत् मनमें समागई । भ्रांति ॥ ४०४ ॥

करले चूम चढाय शिर उर लगाय भुज-भेंट । लहि पाती पियकी लखति, बाँचति धरति समेट ॥ ४०५ ॥

प्यारेकी पत्री हाथमें ले मुखसे चूम शिर चढाय हृदयसे लगाय भुजासे मिलाती देखती बांचकर समेट धरती है । प्रेमालंकार ॥ ४०५ ॥

रंगराती राते हिये, प्रीतम लिखी बनाय । पा-ती काती विरहकी, छाती रही लगाय ४०६

प्रीतमने लाल रंगके कागजपर अनुरागभरे मनसे पाती बनाकर लिखी उस विरहकी काटनेवालीको प्यारी हृदयसे

लगाय रही अथवा काती--विरहके तारसे फैलीहुई। वृत्त्य-नुप्रास ॥ ४०६ ॥

नाच अचानकही उठो, बिनपावस वन-मोर। जानति हौं नन्दित करी, यह दिशि नन्दकिशोर ॥ ४०७ ॥

अचानकही विना वर्षाऋतुके वनमें मोर नाच उठे विदित होता है कि, इस दिशाको घनश्यामने अपने आगमनसे प्रसन्न किया। आशय यह कि, राधिकाकी उद्वेगदशा जानकर सखी उपाय करती थी कि, इसमें किसीने बिन पावस मोर नाचते देख अनुमानसे कृष्णका आगम जताया। अनुमान ॥ ४०७ ॥

कोटि यतन कोऊ करो, तनुकी तपति न जाय। जौलगि भीजे चीरलों, रहै न यों लपटाय ॥ ४०८ ॥

प्यारी कोटि यतन करो परन्तु प्यारेके तनुकी तपन नहीं जायगी जबतक भीजे चीरके समान तुम्हारे शरीरमें लिपटकर न रहे। पूर्णोपमा—नायक उपमा चीर उपमेय लों वाचक लिपटना धर्म ॥ ४०८ ॥

सोवत सपने श्यामघन, हिलमिल हरत वियोग। तबही टरि कितहूं गई, नींदौ नींद न जोग ॥ ४०९ ॥

सखी सोते समय स्वप्नमें श्यामघन हिलमिल कर वियोग हरते थे उसी समय टलकर कहीं नींद चलीगई इससे यह निंदाके योग्य है, 'नींद तोहि बेचूं गाहक होय'। विपरीतालंकार--[ दोहा-सिधिको बाधक होय जहँ, साधनसों विपरीत। नींद योग साधक यहां, बाधक भई अनीत ] ॥ ४०९ ॥

जब जब वे सुधि कीजिये, तब तब सब सुधि जाहिं। आँखिन आँख लगीरहै, आखैं लागत नाहिं ॥ ४१० ॥

सखी जब जब उन बातोंकी याद करी जाय है, तब तब दुखके कारण सब सुधबुध जाती रहैहै उनकी आंखोंमें मेरी आंख लगी रहती है, रातको आंख नहीं लगती॥४१०॥

सघनकुञ्ज छाया सुखद, शीतल मन्द समीर। मन है जात अजौं वही, वा यमुना-के तीर ॥ ४११ ॥

हे सखी ! सघन कुञ्जकी छाया सुखदायक शीतल मन्द पवनवाले उस यमुनाके किनारे जानेसे कृष्णकी वह सब वार्त्ता स्मरण करनेसे अबभी मन वैसाही होजाता है॥

जहाँ जहाँ ठाढयो लख्यो, श्याम सुभग शिर मोर। उनहूं बिन क्षण गहि रहत, दृगनि अजौं वह ठौर ॥ ४१२ ॥

भाग्यवानोंके मुकटमणि कृष्णको पहले जहां जहां खडे हुए देखा था अब उनके विनाभी नेत्र उस स्थानको देखकर क्षणमात्रको वहां स्थित होजाते हैं वा वह स्थान अब भी क्षणमात्रके लिये नेत्रोंको पकडरखता है । स्मृति ४१२

सोवत जागत सपनवश, रस रिस चैन कुचैन । सुरति श्यामघनकी सुरति, बिसरेहु बिसरै न ॥ ४१३ ॥

सोते जागते स्वप्नमें रसमें रिसमें चैनमें कुचैनमें श्यामघनकी सुरत हृदयमें रहती है । बिसारेसेभी नहीं बिसरती । विशेषोक्ति ॥ ४१३ ॥

भ्रुकुटी मटकन पीतपट, चटक लटकती चाल । चल चख चितवनि चोरि चित, लियो बिहारीलाल ॥ ४१४ ॥

हे सखी ! भौंहोंके मटकाने, पीतवस्त्रकी चटक, लटकती चाल तथा चंचल आंखोंकी चितवनसे कृष्णने मेरा मन चुरालिया । जाति अलंकार ॥ ४१४ ॥

औरै भांति भये वये, चौसर चंदन चंद । पति बिन अति पारति विपति, मारत मारुत मंद ॥ ४१५ ॥

हे सखी ! अब चार लडका मोतियोंके फूलोंका हार चंदन और चन्द्रमा अब औरही भांतिके होगये यह पतिके

बिना महाविपत्ति डालते हैं और मंद पवन तो मारे डालती है। भेदाकातिशयोक्ति ॥ ४१५ ॥

हौंही बौरी विरहवश, कै बौरो सब गाम। कहा जानिये कहत हैं, शशिहि शीतकर नाम ॥ ४१६ ॥

हे सखी! क्या विरहके वशसे मैं बौरीगई हूं, के सब गांव बावरो है क्या जानकर चन्द्रमाका नाम शीतलकिरण कहते हैं यह तो शीतकर नहीं है। संदेहालंकार॥४१६॥

ह्यांते ह्वां ह्वांते यहां, नैको धरत न धीर। निशिदिन ठाढीसी रहै, बाढी गाढी पीर॥

हे सखी! वह ह्यांसे ह्वां और ह्वांसे यहां आती है, तन-कभी धीर धारण नहीं करती रातदिन जलीसी रहती है उसकी गाढी पीर बढी है। वृत्त्यनुप्रास ॥ ४१७ ॥

इत आवत चलि जात उत, चली छ सातिक हाथ। चढी हिंडोरेसी रहै, लगी उसासनि साथ॥ ४१८ ॥

इधर आवे है, उधर चली जाय है, फिर छः सातक हाथ चलती है उसासोंके साथ लगी हिंडोरे पर चढीसी रहती है आशय यह कि, सांस छोडनेसे बढे है और लेनेसे हटे है। उपमेयलुप्ता ॥ ४१८ ॥

फिरि फिरि बूझति कहि कहा, कहो साँ-
वरे गात । कहा करत देखे कहां, अली चली
क्यों बात ॥ ४१९ ॥

प्रेमके मारे सखीसे वारंवार बूझती है कहै तो साँवरे श-
रीरने क्या कहा है, कृष्ण तुमने क्या करते हुए कहां देखे,
और उनके समीप मेरी चर्चा कैसे चली । प्रेमा-
लंकार ॥ ४१९ ॥

जोन्ह नहीं यह तम यहै, किये जु जगत
निकेत । होत उदय शशिके भयो, मानहु
शशि हरिसेत ॥ ४२० ॥

हे सखी ! यह चांदनी नहीं वही अंधकार है जिसने
जगत्में अपने घर किये हैं चन्द्रमाके उदय होतेही मानों
सहमकर धोला होगया है । उत्प्रेक्षा चांदनी सुखदाई
होती है यह दुःखद है प्रोषितपातिका है ॥ ४२० ॥

तजि शंका सकुचत न चित, बोलत बाक
कुबाक । दिनक्षणदा छाकी रहति, छुटति न
क्षण छबि छाक ॥ ४२१ ॥

प्रोषितपातिकाके प्रलाप उन्माद वर्णन, सखी उसने
शंका त्याग दी है चित्तमें सकुचाती नहीं वाक्य कुवाक्य
बोलती है दिन रात मत्त रहती है क्षणको प्रीतमके रूपका
मद नहीं छुटता । [ दोहा-दोमें हो इक अधिकई, व्यतिरे-

कालंकार। मदछक पुनि छबि छकरही, छुटत न प्राण अधार ॥ ] व्यतिरेकालंकार ॥ ४२१ ॥

करके मीडे कुसुमलौं, गई विरह कुम्हि-लाय। सदा समीपिन सखिनहूं, नीठ पिछानी जाय ॥ ४२२ ॥

प्रोषितपतिकाको सखीका वचन, तुम्हारी प्यारी हाथके मसले फूलके समान कुम्हिला गई है सदा समीपमें रहनेवाली सखियोंसेभी तो नहीं पहँचानी जाती। लुप्तालंकार ॥ ४२२ ॥

नेक न जानी परत यों, परो विरह तनु छाम। उठती दियालौं नाहि हरि, लियो तिहारे नाम ॥ ४२३ ॥

वह इस समय नेक भी नहीं जानी पडती इस प्रकार विरहसे उसका शरीर क्षीण पडगयाहै परन्तु हे कृष्ण! तुम्हारा नाम लेनेसे अब भी दीवेके समान डहडहा उठती है। उपमेयलुप्ता है ॥ ४२३ ॥

करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छांडत नीच। दीन्हेंहू चश्माचखन, चाहै लखै न मीच ॥ ४२४ ॥

यद्यपि वियोगने ऐसा 'दुर्बल' कररक्खा है तथापि नीच मार्ग नहीं छोडती मृत्यु आँखोंमें चश्मा लगाकर

भी ढूंढती है परन्तु उसे नहीं पाती इससे बची है ऐसी दुबली होगई है । अत्युक्ति ॥ ४२४ ॥

नित संशो हंसो बचत, मनो सुइह अनुमान । विरह अगिन लपटनिसकै, झपटन मीच सिचान ॥ ४२५ ॥

हे सखी ! यह सदा 'संशो' संदेहही रहता है कि, इसका ( हंसो ) जीव कैसे बचेगा, परन्तु यह अनुमान है कि, विरहकी अग्निकी लपटोंसे बाजरूपी मृत्यु इसको झपट नहीं सकती । हेतूत्प्रेक्षा ॥ ४२५ ॥

पलन प्रगट बरुनीनि बढि, छन कपोल ठहरात । अँसुआ पर छतियां छिनक, छन छनाय छिप छात ॥ ४२६ ॥

हे सखी ! पलकोंसे प्रगट हो बरोनियोंमें बढकर क्षणमात्रको कपोलपर ठहरते हैं, फिर उसके आंसू छातीपर पडतेही छिनमात्रमें छनछनाकर छिप जाते हैं । अत्युक्ति ॥ ४२६ ॥

प्रगटो आग वियोगकी, बह्यो विलोचन नीर । आठों याम रहै हियो, उड्यो उसांस समीर ॥ ३२७ ॥

वियोगकी आगसे प्रगट हुआ जल उसके नेत्रोंसे बहता है आठों पहर उसका मन श्वासकी पवनसे उडा रहता है । पर्यायोक्ति ॥ ४२७ ॥

तचो आँच अति विरहकी, रह्यो प्रेमरस भीज। नयननिके मग जल बहै, हियो पसीज पसीज॥ ४२८॥

हे सखी! अब इसका शरीर विरहकी आंचसे तचा है और प्रेमके रसमें भीजकर हृदयसे पसीज २ कर नेत्रोंके मार्गसे जल बहता है। समासोक्ति॥ ४२८॥

चकी जकीसी ह्वै रही, बूझे बोलति नीठि। कहूं दीठलोनी लगी, कै काहूकी डीठि॥ ४२९॥

जडता वर्णन, वह भौंचक जकडीसी होरही है, बूझेसे भी नहीं बोलती, नीठकर कही इसकी दृष्टि लगी है, अथवा किसीकी दृष्टि इसे लगी है। सन्देहालंकार ४२९

मरी डरी कि टरी व्यथा, कहा खरी चलि चाहि। रही कराहि कराहि अति, अबमुख आहि न आहि॥ ४३०॥

मरी पडी है अथवा उसकी व्यथा दूर हुई, तू क्या खडी है चलकर देख तो कराह कराह रही थी अब बहुत इसके मुखमें हाय नही है मरणदशा। वृत्त्यनुप्रासकी भांति वीप्सा और जमक॥ ४३०॥

गनती गनवेते रही, छतहू अछत समान। अब अलिये तिथि औमलो, परे रहैं तनुप्रान॥

जिस प्रकारसे अवम तिथि गिनतीके गिननेमें नहीं आती और वह ( छत ) होकरभी अनहोनेके समान है, हे आली ! अब यह औम् हानि तिथिके समान शरीरमें प्राण पडे रहेंगे काममें नहीं आवेंगे । पूर्णोपमा ॥४३१॥

विरह विपति दिन परतही, तजे सुखनि सब अंग । रहि अवलंब दुखी भये, चला चली जियसंग ॥ ४३२ ॥

हे सखी ! विरहकी विपत्तिके दिन पडतेही सुखोंने सब अंगोंको त्याग दिया, अबलों दुखोंका अवलम्ब था परन्तु अब जीके साथ वेभी जाते हैं । लुप्तोत्प्रेक्षा ४३२

मरुन भलो वरु विरहते, यह विचार चित जोय । मरत मिटै दुख एकको, विरह दुहुँन दुख होय ॥ ४३३ ॥

हे सखि ! वियोगसे मरना भला है, यह विचार तू अपने मनमें कर देख, कारण कि, मरनेमें एकका दुःख छुट जाता है, और विरहमें दोनोंको दुःख होता है लेसालंकार [दोहा--दोषनमें गुण कल्पना, गुणमें दोष बताय । सो लेसालंकार है, कविजन लखत सुभाय ॥]॥ ४३३॥

मरवेको साहस कियो. बढे विरहकी पीर । दौरति है समुहे शशिहि, सरसिज सुरभिसमीर ॥ ४३४ ॥

विरहकी पीर बढ जानेसे वियोगिनीने मरनेका साहस किया है, चन्द्रमा कमल सुगन्धित पवन इनके सन्मुख दौरती है तात्पर्य यह कि, वियोगीको उपरोक्त वस्तु ताप देती है सो वह इनके समीप धावमान होती है कि, अधिक अग्निसे शरीर भस्म होजाय, यहाँ चन्द्रमादि उद्दीपन विभावन हैं, विचित्रालंकार [दोहा--जहँ निज इच्छा कियेते, फल विपरीत लखाय । तेहि विचित्र भूषण कहत कविजन हिय हुलसाय ॥ ] ॥ ४३४ ॥

सुनत पथिक मुहँ माह निशि, लुएँ चलत उहिगाम । बिन बूझे बिनहू कहे, जियत विचारी वाम ॥ ४३५ ॥

पथिकके मुखसे यह बात सुनकर कि माहकी रातमें उस गाममें लुएँ चलती हैं, विना बूझे बिनाही कहे प्रोषितपतिका बालाके नायकने विचार लिया कि, प्यारी अबतक जीती है चलें । अनुमान ॥ ४३५ ॥

मानों मनुहारी भरी, मान्यो खरी मिठाहिं । वाको अति अनखाहटो, मुसकाहट बिन नाहिं ॥ ४३६ ॥

धृष्टनायक कथन, सखी मारभी उसकी प्यारसे भरी है और गारीभी आतिमीठी लगतीहैं, उसका अधिक अनखाना भी मुसकुराहटके विना नहीं है । विरोधक्रिया बिन विरोधालंकारवर्णन ॥ ४३६ ॥

लहि रतिसुख लगिये गरे, लखी लजीली डीठि। खुलत न मो मन गडिरही, वहै अध-खुली नीठि॥ ४३७॥

नायकवचन, हे सखी ! जिस समय वह रतिका सुख लेकर गलेसे लगी, और लाजभरी दृष्टिसे देखा, सो वह उसकी अधखुली दृष्टि छुटती नहीं, मेरे मनमें गडरही है विरोधाभास। [ दो०—जो विरोधवत भासियत, अरु विरुद्ध नहिं होय। कहत विरोधाभास तेहि, कविजन जानत कोय॥ ] ॥ ४३७॥

बडी कुटुमकी भीरमें, रही पैठ दे पीठि। तऊ पलक परिजात इत, हेरि हँसौंही डीठि॥

कुटुम्बके लोगोंकी बडी भीरमें यद्यपि वह पीठ देकर बैठ गई है तथापि स्वभावसे हँसीली दृष्टिसे इधर पलक पडजाते हैं और देख लेती है। तृतीय विभावना ४३८॥

सरसत पोंछति लखिरहत, लगि कपोलके ध्यान। करि लेप्यो पाटल विमल, प्यारी पठये पान॥ ४३९॥

कहीं प्यारीके भेजे पान प्यारेके पास आये उन्हें देखकर कपोलोंका ध्यान आगया, इसपर सखी कहने लगी छूते हैं पोंछते हैं देखते रहजाते हैं प्यारीके गालोंके ध्यानमें लगेहुए गुलाबसे निर्मल हाथमें प्यारीके भेजे पान लेकर

सरसते हैं पाटल कुछ सफेदी और लाली लिये गुलाब । सरसतका अर्थ चिकनानेका है ॥ ४३९ ॥

नखशिखवर्णन ।

सहज सुचिक्कन श्याम रुचि, शुचि सुगंध सुकुमार । गनत न मन पथ अपथ लखि, बिथुरे सुथरे बार ॥ ३४० ॥

स्वभावसे चिकने, कारे, कांतिमान्, पवित्र, सुगंधित और कोमल बिखरे सुन्दर बार उसके देखकर मेरा मन पथ अपथ भला बुरा नहीं बिचारता । जाति अलंकार [ दोहा—निज जातिनके कर्म गुण, जामें मिलहिं प्रवीन ॥ ताहि जातिभूषण कहत, यह मत अति प्राचीन ॥ ] ४४०

छुटे छुटावैं जगतसे, सटकारे सुकुमार । मन बाँधत वेणी बँधे, नील छबीरे बार ३४१॥

प्यारीके बाल छुटे ( खुले ) हुए जगत्से छुटा देते हैं, इस प्रकार सटकारे ( लम्बे पतले ) और कोमल हैं वेणी बांधनेसे मनको बांधते हैं इस प्रकार नीले छबिभरे बार हैं । चतुर्थ विभावना ॥ ४४१ ॥

कुटिल अलक छुटिपरत मुख, बढिगोइ तो उदोत । बँक बँकारी देत ज्यों, दाम रुपैया होत ॥ ३४२ ॥

टेढी अलकें छूटकर पडतेही मुखकी इतनी ज्योति बढ

गई जैसे टेढी लकीर देनेसे दामका रुपैया होजाता है । पूर्णोपमा ॥ ४४२ ॥

कच समेट कर भुज उलटि, खरा शीश-पट टारि । काको मन बाँधे न यह, जूरी बाँधनि हारि ॥ ४३४ ॥

बाल समेटकर भुजा उलटकर ( पीछे करके ) तथा शिरका कपडा हटाकर यह जूड बाँधनेवारी किसका मन नहीं बाँधती । जातिअलंकार ॥ ४४३ ॥

नीको लसत ललाटपर, टीको जरित जराय । छबिहि बढावत रवि मनो, शशि-मंडलमें आय ॥ ४४३ ॥

टीका वर्णन, जडाऊ जडित टीका माथे पर बहुत अच्छा लगता है मानों सूर्य चंद्रमण्डलमें आकर छबिको बढा रहा है उक्तास्पदउत्प्रेक्षा ॥ ४४४ ॥

कहत सबै बेंदी दिये, आंक दशगुणो होत । तियलिलार बेंदी दिये, अगणित बढत उदोत ॥ ४४५ ॥

यह सब कहते हैं कि, बिन्दी देनेसे अंक दशगुणा होजाता है, परन्तु प्यारीके माथेपर बेंदी लगानेसे अगणित कांति बढती है । व्यतिरेकालंकार ॥ ४४५ ॥

भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे विराजि । इंदुकला कुजमें बसी, मनो राहुभय भाजि ॥

हे ललन कृष्ण ! वह माथेपर लाल रोलीकी बेंदी लगाये है उसपर चावर लगे हुए ऐसे शोभा देते हैं कि, मानो चंद्रमाकी कला मंगलमें आबसी है राहुके डरसे भागकर । उक्तास्पदवस्तूत्प्रेक्षा ॥ ४४६ ॥

सबै सुहायेही लगै, बसे सुहाये ठाम ।
गोरे मुंह बेंदी लसै, अरुण पीत सित श्याम ॥

शोभित ठौरमें बसनेसे सब अच्छे लगते हैं, जैसे गोरे मुखपर बेंदी शोभा देती है, तथा लाल पीली श्वेत श्याम यह सब शोभित होते हैं लाल रोली, पीली केशर, श्वेत चंदन काली कस्तूरी वा काजरकी बिन्दी । दृष्टान्तालंकार ॥ ४४७ ॥

तियमुख लगि हीराजरी, बेंदी बढै विनोद ।
सुतसनेह मानों लिये, विधु पूरण बुध मोद ॥ ४४८ ॥

प्यारीके मुखपर हीराजरी बेंदी देखकर ऐसी प्रसन्नता बढती है, मानों पुत्रके सनेहसे पूर्ण चन्द्रमा बुधको गोदीमें लिये है किसी पुराणमें भी बुधको श्वेत लिखा है, तथा कविप्रियामें नाकके बुलाकके मोतीकी उपमा बुधसे दी है । उत्प्रेक्षा ॥ ४४८ ॥

भाल लाल बेंदी दिये, छुटे बार छवि देत । गहो राहु अति आहिकर, मनु शशि सूरसमेत ॥ ४४९ ॥

माथेपर लाल बेंदी दिये है, और छुटे बार ऐसी शोभा देते हैं मानो चन्द्रमाको सूरज समेत राहुने साहसकर पकडा है यदि कहो निन्दित और पवित्रका संगम कहा तो यों अर्थ करना कि, माथेपर लाल बेंदी चन्द्रमा सूर्यके समान शोभा देती है वहां राहुभी धीर धारण करगया। उत्प्रेक्षा ॥ ४४९ ॥

मिलि चन्दन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाय। ज्यों ज्यों मद लाली चढै, त्यों त्यों उघरति जाय ॥ ४५० ॥

चन्दनसे मिलकर गोरे मुखपर लगाई हुई बेंदी देखनेमें नहीं आती ज्यों ज्यों मुखपर मदकी लाली चढती है त्यों त्यों उघडती जाती है। उन्मीलितालंकार ॥ ४५० ॥

सोरठा।

मगल बिंब सुरंग, मुख शशि केशर आड गुरु। एक नारि लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥ ४५१ ॥

लाल बेंदी मंगल, मुख चन्द्रमा, केशरकी आड बृहस्पति इन तीनोंने एक स्त्रीरूपराशिको प्राप्त होकर सब जगत्के नेत्र रसमय करदिये इन तीनों ग्रहोंके एकराशिपर आनेसे जलयोग होताहै। सविषय सावयवरूपक ॥ ४५१ ॥

दोहा ।

पँचरँग रँग बेंदी बनी, उठी उमगि मुख-
ज्योति । वहरे चीर चुनोटिया, चटक चौगुनी
होति ॥ ४५२ ॥

पंचरंग बेंदी प्यारीके लगा है, इससे मुखकी ज्योति जगमगा उठी है, तथा सुरमंई ( रक्त और श्याम ) वस्त्र पहरे है, इससे चोगुनी चटक होरही है । अनुगुणालंकार । एक मुखकी कांति दूजे पियाका रंग पाय खरी हुई तीने बेंदी और चीरसे चोगुनी चटक है चिनोटिया सुनहरे रुपहरेके तारोंका वस्त्रभी होता है ॥ ४५२ ॥

खोरि पनच भृकुटी धनुष, वधिक समर
ताजि कान । हनत तरुन मृग तिलक शर,
सुरख भाल भरि तान ॥ ४५३ ॥

व्याधे रूप कामदेवने सब मर्य्यादा छोडकर खोररूप प्रत्यंचा भृकुटीरूप धनुषसे तिलकरूप बाणमें लाल भाल भरके चढाय युवारूप मृगको मारा ॥ ४५३ ॥

नासा मोरि नचाय दृग, करी ककाकी सौंह ।
कांटेसी कसकत हिये, गडी कटीली
भौंह ॥ ४५४ ॥

जो कि, उसने नाक सिकोड नयन नचायकर अपने ककाकी सौगन्ध खाई उस समयकी उसकी कटीली भौंहें

मेरे हृदयमें गडी हुई कांटेसी कसकती है । स्वभावोक्ति और पूर्णोपमा ॥ ४५४ ॥

रससिंगार मज्जन किये, कंजन भंजन दैन । अंजनरंजनहू विना, खंजन गंजन नैन ॥ ४५५ ॥

शृंगार रसमें स्नान किये हुए कमलको भी लज्जित करनेवाले सुरमा लगाये विना भी यह नेत्र भोलेको लज्जित करते हैं वृत्त्यनुप्रास ॥ ४५५ ॥

अरत टरत न वरपरे, दई मरक मनु मैन । होडा होडी बढ चले, चित चतुराई नैन॥४५६॥

हठ करके टलते नहीं हैं और बढपडे हैं मानों कामदेवने इनको सनकार दिया है चित्त चतुराई और नेत्र होडाहोडी बढकर चले हैं । हेतु उत्प्रेक्षालंकार ॥ ४५६॥

योगयुक्ति सिखई सबै, मनो महामुनि मैन । चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन ॥

मानों महामुनि कामदेवने इसको सब युक्ति योगका सिखादी है पियासे एकता होनेकी इच्छाकर नेत्र कान अथवा वनको सेवते हैं, योगका अर्थ परमात्मासे मेल होना और पतिसे संयोग होना काननका अर्थ वन और कान है योगी वन और नेत्र कानका सेवन करते हैं । एकदेशवर्तीसावयवरूपक ॥ ४५७ ॥

खेलन सिखये अलि भले, चतुर अहेरी मार। काननचारी नैन मृग, नागरनरन शिकार ॥ ४५८ ॥

हे सखी चतुर शिकारी कामदेवने कानन ( वन और कान ) तकजानेवाले नेत्ररूपी मग चतुर मनुष्योंके शिकार करनेवाले अच्छे खिलाडी सिखाये हैं । अद्भुतरस रूपकालंकार, मृग मनुष्योंका शिकार करते हैं यह अद्भुत है ॥ ४५८ ॥

सायकसम घायक नयन, रँगे त्रिविध रँग गात । झखौ बिलखि दुरिजात जल, लखि जलजात लजात ॥ ४५९ ॥

बाणोंके समान घायल करनेवाले नेत्र श्वेत श्याम रक्त तीन प्रकारके रंगसे रँगे हैं जिनको देखकर मछरी जलमें छिप जाती और दीर्घता देखकर कमल लजाते हैं हेतु उत्प्रेक्षा ॥ ४५९ ॥

बर जीते शर मैनके, ऐसे देखे मैन ।
हरनीके नैनानते, हरनीके यह नैन ॥४६०॥

हे हरिकृष्ण ! इन्होंने बलसे कामके बाण जीतलिये ऐसा मैंने देखा यह नेत्र तो हरनीके नेत्रोंसे भी नीके अच्छे हैं चंचलता । काव्यलिंग और जमक ॥ ४६० ॥

झूँठे जान न संग्रहे, मन मुख निकसे वैन याहीते मानहु किये, बातनको विधि नैन ॥ ४६१ ॥

दोनोंका मन मुँहसे निकले वचनोंको झूँठे जान कर संग्रह नहीं करता, इसीसे मानों ब्रह्माने बातें करनेको नेत्र बनाये हैं । सिद्धास्पदहेतूत्प्रेक्षा ॥ ४६१ ॥

दृगनि लगत बेधत हियो, विकल करत अंग आन । यह तेरे सबसे विषम, ईछन तीछन वान ॥ ४६२ ॥

आँखोंमें लगते हैं और हृदयको बेधते हैं आतेही सब अंगोंको विकल कर देते हैं तेरे यह नेत्ररूपी पैने तीर सबसे कठिन ( विषम ) हैं । असंगति ॥ ४६२ ॥

फिरि फिरि दौरत देखियत, निचले नेक रहैं न । ए कजरारे कौन पर, करत कजाकी नैन ॥ ४६३ ॥

यह बार बार दौडते देखे जाते हैं क्षणमात्रको भी निचले नहीं रहते यह काजर विना दियेही काजर दियेसे किस पर दौड करते हैं । वाचकोपमान लुप्तोपमालंकार ॥ ४६३ ॥

सारी डारी नीलकी, ओट अचूक चुकैन । मो मन मृगकर वर गहे, अहे अहेरी नैन ॥ ४६४ ॥

यद्यपि नीले रंगकी सारी ओटमें डाली है तथापि वें अचूक चूकते नहीं, मेरे मनरूपी मृगको हाथों हाथ पकड लिया है यह तेरे नेत्र बडे शिकारी हैं। सविषय सावयवरूपक ॥ ४६४ ॥

नीचेही नीचे निपट, डीठि कुहीलौं दौरि। उठि ऊंचे नीचे दियो, मन कुलंग झकझोरि ॥ ४६५ ॥

अति नीचेही नीचे उसकी दृष्टिने कुही (छोटी बलिष्ठ चिडिया) के समान दौडकर देखा और उठकर मेरे मनरूपी कुलंगको ऊंचे नीचे दबोच डाला। दुर्गोपमा। कुही चिडिया कुलंगको भगा देती है ॥ ४६५ ॥

फूले फरकत रैफरी, पल कटाक्ष करवार। करत बचावत पिय नयन, पावक घाय हजार ॥ ४६६ ॥

दोनों स्त्री पुरुषोंको परस्पर चोट करते देख सखी बोली, हे सखि! पलककी ढाल और दृष्टिकी तल्वार लेकर प्रसन्न हो कूदते हैं, और दोनोंकेही नेत्ररूपी पावक हजारों घाव बचाते हैं। श्लेषगर्भित सविषय सावयवरूपक ॥ ४६६ ॥

तिय कत कमनौती सिखी, बिन जिह

भौंह कमान। चलचित वेधक चुकत नहिं, वंक विलोकनि बान ॥ ४६७ ॥

हे प्रिये! तुमने यह बाणविद्या कहाँ सीखी है कि, विनाही रोदा चढाये भौंहरूपी कमानसे बाण छोड चित्त-रूपी निशानेको मारती हो तेरे बांके देखनेके बाण चूक-तेही नहीं। द्वितीय विभावना ॥ ४६७ ॥

चमचमात चंचल नयन, विच घूँघट पट झीन। मानहुँ सुरसरिता विमल, जल उछरत युग मीन ॥ ४६८

झीने घूँघटके वस्त्रमें चञ्चल नेत्र चमचमाते हैं मानों गंगाजीके उज्ज्वल जलमें दो मछली उछलती हैं। वस्तु उत्प्रेक्षा। वस्त्र श्वेत ॥ ४६८ ॥

वारों वलि तो दृगनिपर, अलि खंजन मृगमीन। आधी दीठि चितौन जेहि, किये लाल आधीन ॥ ४६९ ॥

तेरे इन नेत्रोंपर मैं भौंरे ममोले मृग और मीनकोभी वार डारूं जो तैंने आधी दृष्टिसे देखतेही कृष्णको अपने आधीन करलिया। व्यतिरेकालंकार ॥ ४६९ ॥

जे तब हुती दिखा दिखी,, भई अमी इक अंक। दगै तिरीछी दीठि अब, है वीछीको डंक ॥ ४७० ॥

जो तब देखादेखी थी वह निश्चयही अमृतरूप हुई थी अब तो वह तिरछी दृष्टि बिच्छूका डंक होकर दागती (डसती) है। पर्याय अलंकार ॥ ४७० ॥

वेधक अनियारे नयन, वेधत करन निषेध। बरबश वेधत मो हियो, तो नासाको वेध ॥

यह तेरे तीक्ष्ण नेत्र वेधे डालते हैं इन्हें वेधनेका निषेध न कर तेरी नासाका वेधही बरबस मेरा मन वेधे डालता है। चतुर्थ विभावना ॥ ४७१ ॥

जटित नीलमणि जगमगत, सींक सुहाई नाक। मनो अली चम्पककली, बसि रस लेत निशंक ॥ ४७२ ॥

नीलमणीकी जडी हुई झलकी नाकपर शोभा देती है, मानों भौंरा चम्पेकी कलीमें निवास कर रस लेता है। वस्तु उत्प्रेक्षालंकार ॥ ४७२ ॥

यदपि लौंग ललितो तऊ, पहिर न तू इक आँक। सदा शंक बढिये रहै, यहै चढेसी नाक ॥ ४७३ ॥

यद्यपि लौंग सुन्दर है, तो भी तू मत पहरे, इसमें निश्चय मान यह तेरी चढीसी नाक देखकर सदा शंका बढतीही रहती है अर्थात् नाक चढनेसे मानका भ्रम होता है। व्याजस्तुति ॥ ४७३ ॥

इन दोई मोती सुगथ, तू नथ गरब निशांक। जिह पहरत जग दृग ग्रसत, लसत हंसत सीनाँक ॥ ४७४ ॥

इन दोई मोतीके अच्छे प्रकारसे गुथनेसे हे नाथ ! तू निःशंक गर्व कर जिसके पहरनेसे जगत्के नेत्र ग्रसकर नासिका हँसतीसी विदित होती है । काव्यलिंग ॥४७४॥

बेसरमोती धनि तुही, को पूछै कुल जाति । पीबोकर तिय ओठको, रसनिधरक दिन राति ॥ ४७५ ॥

हे वेसरके मोती ! तू ही धन्य है ऐसे विषयमें कोई कुल जाति नहीं पूछता तु प्यारीके ओठका रस रात-दिन पीता रह । अन्योक्ति ॥ ४७५ ॥

वरन वास सुकुमारता, सब विधि रहीं समाय । पँखुरी लगे गुलाबकी. गात न जानी जाय ॥ ४७६ ॥

वरन ( रंग ) सुगंधि सुकुमारता सब प्रकार उसमें समारही है जो गुलाबकी पखुरी भी शरीरसे लगी हुई नहीं जानी जाती गुलाब ओर शरीरका रंग एकसा है॥ ४७६॥

लौने मुख दीठि न लगै, यों कहि दीनों ईठि । दूनी ह्वै लागन लगी. दिये डिठौना दीठि ॥ ४७७॥

इस सलौने मुखपर किसीकी नजर न लगे यों कह स-खीने स्याहीकी बिंदी लगादी, दीठ दिठौनाके लगातेही दूनी हो लगने लगी । विषमालंकार ॥ ४७७ ॥

पिय तियसों हँसिकै कह्यो, लखे दिठौना दीन । चन्द्रमुखी मुखचंद्र ते, भलो चन्द्र-सम कीन ॥ ४७८ ॥

प्यारीको दिठौना स्याहीकी बिन्दी लगाये देख पियाने तियासे हँसकर कहा हे चन्द्रवदनि ! तुमने अपना मुखचंद्र अच्छा चन्द्रमाके समान किया अर्थात् प्रथम निर्मल चन्द्रमाके समान और अब श्यामयुक्त चन्द्रमाके समान किया । व्यतिरेक ॥ ४७८ ॥

लसत सेतसारी ढक्यो, तरल तरौना कान । परो मनो सुरसरि सलिल,जनु रविबिंब महान

सफेद सारीसे ढकी चमकती ढेरी नायकाके कानमें ऐसे शोभा देती है, मानों प्रभात काल गंगा जलमें सूर्यकी परछाई पडी हो । वस्तूत्प्रेक्षा ॥ ४७९ ॥

लसै मुरासा तियश्रवन, यों मुकतानि दुति पाय । मानों परस कपोलके, रहे स्वेदकण छाय ॥ ४८० ॥

प्यारीके कानोंमें मोतियोंकी कांतिको पाकर तरकी

ऐसी शोभा देती हैं जैसे कपालोंके छूनेसे ( स्वेदकण ) पसीनेके कण छारहे हैं । हेतूत्प्रेक्षा ॥ ४८० ॥

शालत है नटसालसी, क्यौहू निकसति नाहिं ॥ मनमथनेजा नोककी, खुबी खुबी मनमाहिं ४८१ ॥

टूटे कांटेके समान खटकती है किसी प्रकार नहीं निकलती कामदेवके भालेकी नोकके समान भली प्रकारसे मेरे मनमें खुबी चुभी है । पूर्णोपमा ॥ ४८१ ॥

झीने पटमें झुलमिली, झलकत ओप अपार ॥ सुरतरुकी मनु सिंधुमें, लसति सपल्लव डार ॥ ४८२ ॥

महीन वस्त्रमें ( झुलझुली ) कानके पत्तोंकी अपार ज्योति चमकती है मानों सागरमें कल्पवृक्षकी डार पत्तों सहित स्थित हो । उत्प्रेक्षा ॥ ४८२ ॥

नेक हँसोही बानि तजि, लख्योपरत मुख नीठि । चौका चमकनि चौंधमें, परत चौंधसी दीठि ॥ ४८३ ॥

सखी तू नेक हँसनेका स्वभाव छोडदे तेरा मुख नजरभर कर देखा जाय है. दांतके चौकेकी चमकसे हमारी दृष्टि चौंधाईसी होजाती है । काव्यलिंग ॥ ४८३ ॥

कुचगिरि चढि अति थकित ह्वै, चली

दीठ मुख चाड ॥ फिर न टरी परिये रही, परी चिबुकके गाड ॥ ४८४ ॥

मेरी दृष्टि कुचरूपी पर्वत पर चढ फिर बहुत हारके मुखकी सुन्दरताकी ओर चली, परन्तु फिर वहाँसे आगे न चली ठोडीके गर्तमें पडी पडीही रही । काव्यलिंग ४८४

डारे ठौडी गाड गहि, नैन बटोही मार । चिलक चौंधमें रूप ठग, हांसी फांसी डार४८५

मुखकी ज्योतिरूप मकरचांदनीमें सुन्दरतारूप ठगने हांसीकी फांसी डारकर कितने नेत्ररूप बटोही मारकर ठोडीके गढेमें डालदिये हैं । सावयवरूपक ॥ ४८५ ॥

तो लखि मो मन जो गही, सो गति कही न जाति । ठोडी गाड गड्यो तऊ, उड्यो रहत दिनरात ॥ ४८६ ॥

जो तुझे देखकर मेरे मनने जो पकडी है सो गति कही नहीं जाती है, यद्यपि ठोडीके गर्तमें पडा है तथापि दिनरात उडताही रहता है यदि कहो दिनरात उडनेसे उडनेकी पुष्टाई नहीं है तो इसका भाव यह कि, कहीं हाथ चिबुकको स्पर्श न करे यही सोच रहता है ॥४८६॥

ललित श्याम लीला ललन, चढी चिबुक छबि दून । मधु छाक्यो मधुकर पऱ्यो, मनो गुलाब प्रसून ॥ ४८७ ॥

हे कृष्ण ! सुन्दर श्याम गुदानेसे उसकी चिबुककी शोभा दूनी बढगई है, जैसे मकरन्दसे मत्त हो भौंरा गुलाबके फूलपर टूट पडा हो । उत्प्रेक्षा मुखवर्णन ॥४८७॥

सूर उदितहू मुदित मन, मुख सुखमाकी ओर। चिते रहत चहुं ओरते, निहचल चखनि चकोर ॥ ४८८ ॥

सूर्यके उदय होनेसेभी प्रसन्न मन होकर मुखकी शोभाकी ओर चारों ओर निश्चल हुए चकोरोंके नेत्र तुझे देखतेही रहते हैं । भ्रांति मुखकी सुखमा सब ओर है ॥ ४८८ ॥

पत्राही तिथि पाइये, वा घरके चहुंपास। नितप्रति पून्योही रहै, आनन ओप उजास ॥ ४८९ ॥

प्यारीके घरके चारों ओर पत्रेहीसे तिथिका पता लगता है कारण कि, उसके मुखसे उजालेसे नित्य प्रति पूनोही रहती है । परिसंख्यालंकार ॥ ४८९ ॥

छिप्यो छबीलो मुख लसै, नीले अंचल चीर । मनो कलानिधि झलमलै, कालिन्दीके नीर ॥ ४९० ॥

नीले अंचलमें छिपा हुआ प्यारीका छबीला मुख ऐसे

शोभा देता है, मानों नीले अंचलको चीरकर चन्द्रमा कालिन्दी यमुनाके नीरमें शोभा देता है। उत्प्रेक्षा ॥ ४९०॥

जरीकोर गोरे वदन, खरी बढी छबि देख। लसत मनो बिजुरी किये, शारद शशि परिवेख ॥ ४९१ ॥

जरीकी किनारी गोरे मुखपर अति बढी हुई शोभा देती है मानों शरदके चन्द्रमापर बिजली मण्डलाकार किये शोभित हैं। उत्प्रेक्षा ॥ ४९१ ॥

ग्रीवावर्णन।

खरी लसत गोरे गरे, धसति पानकी पीक। मनो गुलूबँद लालकी, लाल लाल दुतिलीक॥ ४९२ ॥

गोरे गलेमें अति धसती हुई पानकी पीक अति शोभा देती है मानों लालोंका गुलूबंद पहरे है, हे कृष्ण ! इस प्रकार लाल लकीर होरही है। हेतु उत्प्रेक्षा ॥ ४९२ ॥

पहरतही गोरे गरे, यों दौरी दुति लाल। मनो परसि पुलकित भई, मौलसिरीकी माल ॥

हे कृष्ण ! गोरे गलेमें पहरतेही इस प्रकारसे शोभा दौडी मानों छूनेसेही मौलसिरीकी माला रोमाञ्चित हुई हो तात्पर्य यह कि, प्यारीने प्यारेकी दी हुई वह माला

गोरे गलेमें पहरी उससे यों उसकी छबि बढी मानों लालके हाथसे स्पर्श हुई हो। हेतूत्प्रेक्षा ॥ ४९३ ॥

बडे कहावत आपहू, गरुए गोपीनाथ। तौ बदिहौं जो राखिहो, हाथनि लखि मन हाथ॥

हे गोपीनाथकृष्ण ! आपभी बडे गौरवके कहाते हो परन्तु जो उसके हाथको देखकर मन अपने हाथमें रक्खोगे तो मैं जानूंगी। संभावना ॥ ४९४ ॥

वेई कर ब्यौरन वहै, ब्यौरो कौन बिचार। जिनहीं उरझो मो हियो, तिनही सुरझे बार ॥ ४९५ ॥

हे सखी। वेही हाथ है और वही झाडना वा सुलझाना है भेद किस विचारसे है जिनमें मेरा हृदय उलझा है उन्हींसे बाल सुलझे। पंचम विभावना ॥ ४९५ ॥

गोरी छिगुनी नख अरुन, छला श्याम छबि देइ। लहति मुकति रति क्षणिक यह, नैन त्रिबेनी सेइ ॥ ४९६ ॥

कन अँगुरी गोरी है नख लाल हैं छल्ला काला छबि देरहा हैं यही क्रमसे गंगा सरस्वती और यमुना हैं, हे नेत्र यह त्रिवेणी सेयकर क्षणमें रतिरूपी मुक्ति होजाती है। रूपका० ॥ ४९६ ॥

चलन न पावत निगममग, जग उपजो

अति त्रास। कुच उतंग गिरिवर गहो, मीना मैन मवास ॥ ४९७ ॥

अब शास्त्रका मार्ग नहीं चलनेपाता जगत्में अति त्रास उपज रहा है कारण कि कामरूपी भीलने स्तनरूपी ऊँचे पर्वतोंकी कठिण ठौरमें अपना निवास कर रक्खा है निगममग—जिस मार्गकी खबर न पडे। मवास- कठिन ठौर "रूपकालंकार" मेवाडके रहनेवाली जातके लोग जो लुटेरे हैं वह मीना कहाते हैं वे वन पहाडोंकी कंदरामें रहते हैं ॥ ४९७ ॥

गाढे ठाढे कुचन ढिल, को पिय हिय ठहराय। उकसो हैंही तो हिये, दई सबन उकसाय ॥ ४९८ ॥

इन घने कठोर कुचोंके सामने ढिलकर पियाके सामने कौन सौत ठहरेगी, तेरे स्तनोंने उकसतेही नायकके मनसे सब सौतें हटा दीं चतुर्थ विभावना ॥ ४९८ ॥

दुरति न कुचबिच कंचुकी,चुपरी सारी सेत। कवि आंकनिके अर्थलौं, प्रगट दिखाई देत ॥

चोलीके भीतर तेरी छाती, इतर लगी श्वेत सारीसे नहीं छिपती कविके अक्षरोंके अर्थकी भांति प्रत्यक्ष दिखाई देती है। पूर्णोपमा ओर दृष्टांतालंकार ॥ ४९९ ॥

भई जु तनु छबि वसन मिलि, बरणिसके

खुल नैन । अंग ओप आँगी दुरी, आँगी ओप दुरै न ॥५०० ॥

कपड़ेकी शोभासे मिलकर जो शरीरकी शोभा हुई उसे कोई वर्णन नहीं करसक्ता अंगकी ज्योतिसे अँगिया छिपी है परन्तु अँगियामें स्तन नहीं छिपते । मिलिता विभावना ॥ ५०० ॥

इति श्रीकविवर बिहारीलालकी सतसईमें भाषाटीकासहित पंचमशतक पूर्ण हुआ ॥ ५ ॥

---

सौनजुहीसी जगमगै, अँग अँग यौवन जोति । सुरँग कुसुंभी कंचुकी, दुरँग देह द्युति होति ॥ ५०१ ॥

यौवनकी ज्योतिसे वह बाला पीत जुहीसी अंग अंगमें जगमगारही है, कंचुकी सुरंग कसूँभी रंगकी है, सो देहकी कान्ति दो रंगयुक्त होती है लाल अंगमें देहदीप्तिका वर्णन है पूर्णोपमा ॥ ५०१ ॥

उर माणिककी उरवसी, निरखि घटत दृग दाग । छलकत बाहर भरि मनो, तिय हियको अनुराग ॥ ५०२ ॥

हृदयपर लाल माणिक्यकी धुकधुकी देखकर नेत्रोंका दाग घटता है, मानों तियाके हृदयका अनुराग सम्पूर्ण भ-

रकर बाहर छलकता है,झलकत पाठमें झलकता है, कहीं 'पियहियको अनुराग' पाठ है वहां ऐसा अर्थ करना मानों पियाके हियेका अनुराग झलकता है। वस्तूत्प्रेक्षा ॥ ५०२

त्रिवलीवर्णन।

कर उठाव घूँघट करत, उसरत पट गुझरौट। सुखपोटैं लूटी ललन, लखि ललनाकी लौट ॥ ५०३ ॥

जिस समय उसने हाथ उठाकर घूँघट किया तब सलवट खाकर वस्त्र हटा उस समय नायकने प्यारीकी त्रिवलीको देखकर सुखकी पोटें लूटी। जातिअलंकार, गुझरोट-उलझन। सिलोट-सिकुडन। लौट-लूटना ॥ ५०३ ॥

लहलहाति तनु तरुणई, लचि लगिलों लफि जाय। लगैलांक लोयन भरी, लोयन लेत लगाय ॥५०४॥

प्यारीके शरीरमें तरुणाई शोभा देरहीहै, और लचकर छडीकी भांति लच जाती है, कमर लावण्यभरी लगती है परन्तु नेत्रोंको लगाय अर्थात् चसमें करलेती है, लफिलफकर लचककर। लग-पतली छडी। लांक लंक कमर। लोयन-लोन लावण्य। लोयन-लोचन। पूर्णोपमा जमक ॥ ५०४ ॥

लगी अनलगीसी जु विधि, करी खरी

कटि छीन । कियो मनो वाही कसर, कुचि नितम्ब अतिपीन ॥ ५०५ ॥

विधाताने जो लगी अनलगीसी कटि अधिक क्षीण की है, मानों उसी कसरसे नितम्ब और स्तन अतिपुष्ट किये हैं अनलगी जुडी अनजुडी । हेतूत्प्रेक्षा ॥ ५०५ ॥

जंघावर्णन ।

जंघयुगल लोयन निरे, करे मनो विधि मैन । केलि तरुन दुखदेन ये, केलितरुन सुख देन ॥ ५०६ ॥

मानों कामदेवरूपी ब्रह्माने दोनों जंघा निलोंयन रोम रहित बनाये हैं, यह कदली ( केले ) के वृक्षोंको दुःख देनेवाले हैं और केलि ( रतिक्रीडामें ) तरुणपुरुषोंको सुख देनेवाले हैं । जमकालंकार अथवा निरलोयन निरे आटेकी लोइयोंसी हैं ॥ ५०६ ॥

रह्यो ढीठ ढाढस गहै, शशि हर गयो न सूर । मुर्‍यो न मन मुरवान मिलि, भौ चूरन चपिचूर ॥ ५०७ ॥

शूरमन मुरवाओंसे मिलकर न मुडा, न सिहर गया ढीठ होकर ढाढस गहेरहा अन्तमें उसके चूडोंसे दबकर चूर होगया पादमूल और चूडोंका वर्णन । सिहर-सहमना

हरना. सुरथीलोटा। मुरवा—पादमूल पैरकी गाँठ। चूरन—चूडोंसे। चपिदनकर। सम्बन्धातिशयोक्ति॥५०७

एडीवर्णन।

पांय महावर देनको, नायन बैठी आय। फिरि फिरि जानि महावरी, एँडी मीडत जाय॥ ५०८॥

जब नायन पाँवमें महावर देनेको आकर बैठी तब वारम्वार महावरी जानकर एडीहीको मलने लगी, महावरी महावरकी गोली, नायनको भ्रांति इस कारण हुई कि, वह नई आई थी। भ्रांति अलंकार॥ ५०८॥

कौंहरसी एडीनकी, लाली देखि सुभाय। पाँय महावर देनको, आप भई बेपाय॥ ५०९॥

लाल फलके अर्जुनवृक्षकीसी स्वाभाविक एडी देखकर पैरोंमें महावर देनेको आई नायन पाँवरहित होगई अपहाज ( निर्बुद्धि ) बेपांय कहा। पूर्णोपमा॥ ५०९॥

पायल वर्णन।

किय घायल चितचाय लगि, बजि पायल तुव पाँय। पुनि सुनि सुनि मुख मधुर धुनि, क्यों न लाल ललचाय॥ ५१०॥

पायलने तेरे पांयसे बजकर, चावसे लगकर चित्त घायल किया फिर वारंवार मनोहर ध्वनि सुनकर ललन क्यों न ललचावे जहां हायल पाठहो वहां इसका अर्थ

थकित करना जानना और जब पायलका शब्द ऐसा है तो जाने मुखका शब्द सुनकर लाल क्यों न ललचायेंगे ॥ ५१० ॥

सोहत अँगुठा पाँयके, अनवट जडित जडाय। जीतो तरवनि दुति सुढर, परो तरणि मनु पाँय ॥ ५११ ॥

जडाऊ जडावका अनवट पांवोंके अँगूठेमें शोभा देता है, कानकी ढेरियोंने जो इसे अपनी अच्छी कांतिसे जीत लिया है, इससे मानों हारकर सूरज तियाके पाँव पड रहा है। दृष्टान्तालंकार ॥ ५११ ॥

पगअंगुरीवर्णन।

अरुण सरोरुहसे चरण, अँगुरी अति सुकुमार। चुवत सुरँग रँगसी मनो, चपि बिछियनके भार ॥ ५१२ ॥

चरण लाल कमलसे हैं उसमें अंगुरी अति कोमल हैं मानो बिछुओंके बोझसे दबके अच्छे लालरंगसी चूती हैं। हेतूत्प्रेक्षा ॥ ५१२ ॥

गतिवर्णन।

पग पग मग अगमन परत, चरन अरुण दुति झूल। ठौर ठौर लखियतु उठे, दुपहरियासी फूल ॥ ५१३ ॥

मार्गमें पग पगपर आगे गिरती है, चरण लालकी कांति झूल कर, ठौर २ उठे दुपहरियाके फूलसे दीखते हैं अर्थात् चरणोंसे चलनेके कारण दुपहरियाके फूलसे परछांईसे लाल लाल मार्गमें उठि आये हैं, व्यंग्यसे वस्तूत्प्रेक्षा ॥ ५१३ ॥

देहद्युतिवर्णन ।

तनु भूषण अंजन दृगनि, पगनि महा उररंग। नाहिं शोभाको साजियत, कहिबे-हीके अंग ॥ ५१४ ॥

तनुमें भूषण; नेत्रोंमें अंजन, चरणोंमें महावरका रंग इनसे कुछ शोभा नहीं सजती यह तो शरीरमें कहनेहीको हैं आशय यह कि, शरीरके अंगहीमें मिल जाते हैं इनकी शोभा दिखाई नहीं देती। मीलितालंकार ॥ ५१४ ॥

मानहु विधि तनु अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज। दृग पग पोंछनको किये, भूषन पायनदाज ॥ ५१५ ॥

मानों शरीरकी अच्छी छबि स्वच्छ रखनेके निमित्त विधाताने दृग और पगके पोंछनेको भूषणोंको पायन दाज किया है जो फरशके आगे देहलीमें पगपोंछन होता है उसे पायनदाज कहते हैं। उत्प्रेक्षालंकार ॥ ५१५ ॥

सहज सेत पचतोरिया, पहरे अति छबि

होत। जलचादरके दीपज्यों, जगमगाति तनु जोत ॥ ५१६ ॥

स्वभावसेही श्वेत पचतोरिया वस्त्रकी धोती पहरकर उसकी अति शोभा होती है जलकी चादरके बीचमें जैसे दीपककी ज्योति जगमगाती है तात्पर्य यह कि, जैसे पानीकी चादरके पीछे दीपक बालरखनेसे वह चमकता है इसप्रकार श्वेत साड़ीमें उसकी देह चमकती है। पूर्णोपमा ॥ ५१६ ॥

देखी सौनजुही फिरति, सौनजुहीसे अंग।
दुति लपटन पट सेतसैं, करत बिनौटीरंग ॥

सौनजुही (स्वर्णयूथी) से अंगकी पीतजुही (रूपवाला) अपनी कांतिकी लपटोंसे श्वेत वस्त्र भी केशरिया रंग करते हुए फिरते देखी। बनौटी–वनयष्टि। बनौटीरंग–कपासी वा केशरियारंग। तद्गुणालंकार ॥ ५१७ ॥

वाहि लख लोयनु लगै, कौन युवतिकी जोति। जाके तनुकी छाँह ढिग, जोन्ह छाँह-सी होति ॥ ५१८ ॥

उसके देखने पर फिर किस तरुणीकी ज्योति नेत्रोंमें लग सकती है कि, जिसके शरीरकी छायाके निकट चाँद-नी छायासी होजाती है। जोन्ह–चांदनी। उत्प्रेक्षा ५१८

कहा कुसुम कहा कौमुदी, कितक आर-

सी जोति । जाकी उजराई लखे, आंख ऊजरी होति ॥ ५१९ ॥

क्या फूल क्या चांदनी और आरसीकी ज्योति कितनी है जिसकी उजराई देखनेसे आंख उजरी होजाती है प्रतीपालंकार ॥ ५१९ ॥

कहि लहि कौन सकै दुरी, सौनजुहीमें जाय । तनुकी सहज सुवासना, देती जो न बताय ॥ ५२० ॥

कहो तो उस सोनजुहीमें जाकर छिपी हुईको कौन पासकता था, जो उसके शरीरकी सहज सुवासना उसे न बतादेती । उन्मीलितालंकार ॥ ५२० ॥

रहि न सक्यो कसुकरि रह्यो, वशकारि लीनो मार । भेदि दुसार कियो हियो, तनु दुति भेदी सार ॥ ५२१ ॥

रहु नहीं सका बलकर हार गया कामदेवने अपने वशमें करही लिया छेदकर मेरे हियेको वारपार करदिया तनुकी कांतिने बरछी छेद दी । काव्यलिंग ॥ ५२१ ॥

कंचन तन धन वरन वर, रह्यो रंग मिलि रंग । जानी जात सुवासही, केशर लाई संग ॥

उसके शरीरका वर्ण कंचनसे श्रेष्ठ है. उसमें रंगमें रंग मिला है इस कारण अंगमें लगी हुई केशर सुगंधहीसे

जानी जाती है, अर्थात् सुगंधके विना केशर और उसके शरीरका वर्ण एक प्रतीत होता है। उन्मीलितालंकार ५२२,

है कपूर मणिमय रही, मिलति न द्युति मुकतालि। छिन छिन खरी विचक्षणी, लहत छानि तृण आलि ॥ ५२३ ॥

मोतियोंकी लडी शरीरकी कान्तिमें मिलकर कपूरसी होकर मनमें रही सखी चतुरभी है, परन्तु खडी हुई छिन छिनमें छप्परका तिनका लेती है; अर्थात् मोतीमाला देख महामोहित होती है, चतुर सखी यह देख तृण तोडती है ॥५२३ ॥

बाल छबीली तियनमें, बैठी आप छिपाय। अरगटही फानूससी, परगट होत लखाय ॥

वह बाला छबीली स्त्रीयोंमें आप छिपकर बैठी परंतु घूंघटहीमें फानूससी प्रगट होकर दीखती है। पूर्णोपमा ५२४

करत मलिन आछी छविहि, हरतु जु सहज विकास। अंगराग अंगनि लग्यो, ज्यों आरसी उसास ॥ ५२५ ॥

यह तनुकी अच्छी छविको मलीन करती है, स्वभाविक विकास ( चमक ) को हरण करता है, यह अंगोंमें लगाहुआ अंगराग ऐसा है, जैसे आरसीके स्वच्छ दर्पणपर, श्वासकी भाप। पूर्णोपमा ॥ ५२५ ॥

पहिर न भूषण कनकके, कहि आवत यहि हेत । दर्पणकेसे मोरचे, देह दिखाई देत

सोनेके भूषण मत पहने यह बात कहनेमें आती है कि, दर्पणकेसे मोरचे मेरी देहमें दिखाई देते हैं, आशय यह कि, तू यह मत जाने कि, मैं तेरा गहना उतरवाती हूँ परन्तु यह तेरे शरीरके सामने मैले लगते हैं। विषमालंकार ॥ ५२६ ॥

लीनेहू साहस सहस, कीने यतन हजार । लोयन लोयन सिंधु तन, पैरि न पावत पार ॥

सहस्र साहस ( हिम्मत ) करके तथा सहस्र यत्न करके भी शरीररूपी शोभा समुद्र पैर कर आंख पार नहीं पाती अर्थात् छबीलीके शोभारूप समुद्रमें पैरते हुए प्रीतमके नेत्र थकगये। छेकानुप्रास जमकालंकार ॥ ५२७ ॥

दीठि न परत समान द्युति, कनक कनकसे गात । भूषणकर करकस लगत, परसि छिपाने जात ॥ ५२८ ॥

कनकसे गात अर्थात् सुवर्णसे शरीरपर कंचन (सुवर्ण) दृष्टि तो नहीं पडता कारण कि, दोनोंकी समान कांति है जब वे गहने हाथमें छूनेसे करकस लगते हैं, तब पहचाने जाते हैं। उन्मीलितालंकार ॥ ५२८ ॥

अंग अंग नग जगमगत, दीपशिखासी देह। दिया बढायेहू रहै, बडो उजेरो गेह ५२९

प्यारीके सब अंग अंग हीरे मोतीसे जगमगाते हैं; दीपककी शिखाके समान सब देह है, दिया बढाये परभी घरमें बडा उजेला रहता है। अतद्गुण पूर्णोपमा ॥५२९॥

अंग अंग प्रतिबिम्बपर. दर्पणसे सब गात। दुहरे तिहरे चौहरे, भूषण जाने जात ॥ ५३० ॥

अंग २ का अंग २ में प्रतिबिम्ब पडता है, सब शरीर दर्पणसे चमकते हैं, प्रतिबिम्बके कारण वे भूषण दुहरे तिहरे चौहरे जाने जाते हैं। लुप्तोत्प्रेक्षा ॥ ५३० ॥

अंग अंग छबिकी लपटि, उपजति जात अछेह। खरी पातरी ऊतऊ, लगै भरीसी देह५३१

प्यारीके अंग अंगसे छबिकी छटा निरन्तर उपजती जाती है, यद्यपि अधिक पतली है, परन्तु शोभासे भरीसी देह लगती है। लुप्तोत्प्रेक्षा ॥ ५३१ ॥

रंच न लखियत पहरि यों, कंचनसे तनु बाल। कुंभिलानी जानीपरै, उर चपका माल ॥ ५३२ ॥

बालाके सोनेसे शरीरमें पहरी हुई तनकभी नहीं जानी जाती, परन्तु हृदयपर मुरझानेसे चम्पेकी माला जानी जाती है। उन्मीलित ॥ ५३२ ॥

त्यों त्यों प्यासेई रहत, ज्यों ज्यों पियत अघाय। सगुन सलौने रूपको, नहिं चख तृषा बुझाय ॥ ५३३ ॥

ज्यों ज्यों पेट भरकर पीते हैं त्यों त्यों प्यासेही रहतेहैं गुणवान् सलौने रूपको देखकर नेत्रोंकी प्यास नहीं बुझता। विशेषोक्ति ॥ ५३३ ॥

लिखन बैठ जाकी सबहि, गहि गहि गरब गरूर। भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर ॥ ५३४ ॥

गर्व गरूर ग्रहण करके उसके चित्रको लिखनेको बैठे जगत्के कितने चतुर चित्रकार कूढ अर्थात् मूर्ख न होगये। विशेषोक्ति सबहि तस्बीर ॥ ५३४ ॥

केसर केसर क्यों सकै, चंपक कितिक अनूप। गातरूप लखि जात दुरि, जातरूपको रूप ॥ ५३५ ॥

केसर क्या बराबरी करसकती है और चंपेकीभी क्या शोभा है; शरीरका रंग देखकर सोनेके रूपका रूपभी छिप जाता है। प्रतीपालंकार ॥ ५३५ ॥

सोरठा।

तो तनु अधिक अनूप, रूप लगो सब

जगतको । मो दृग लागे रूप, दृगनी लगी अति चटपटी ॥ ५३६ ॥

तेरा शरीर शोभाकी महिमा है, सब जगत्का रूप लगा है, रूपसे मेरे नेत्र लगे हैं; इसीसे नेत्रोंको बड़ी चटपटी लगी है । आधारमाला ॥ ५३६ ॥

सुकुमारतावर्णन ।

दोहा ।

भूषणभार सँभारहीं, क्यों यह तनु सुकुमार । सूधो पाँय न धर परत, शोहे शोभाके भार ॥ ५३७ ॥

यह सुकुमार अंग भूषणका भार किस प्रकारसे संभाल सकेंगे, कारण कि शोभाके भारसे सूधे पांय पृथ्वीमें नहीं धर सकती अथवा स्त्रीकी शोभा कुच नितम्ब हैं उसके बोझसे पृथ्वीमें सूधे पांय नही पडसकते । काकोक्ति अलंकार ॥ ५३७ ॥

जनकु धरत हर हिय धरें, नाजुक कमलां बाल । भजत भार भयभीत है, घन चन्दन वनमाल ॥ ५३८ ॥

मानों हरि कोमल लक्ष्मी बालाको हृदयमें धारण किये हुए घना चन्दन और वनमाला धारण करते बोझसे डरते भीत हो भजते हैं । आशय यह कि, प्यारी चन्दन

वनमाला देने लगी और प्रीतमको रोषकर चलता देख हृदयकी कोमलता प्रगट की ॥ ५३८ ॥

छाले परिवेके डरन, सकत न हाथ छुवा-य। झझकति हिये गुलाबके, झवा झवावति पाँय ॥ ५३९ ॥

छाले पडनेके डरसे हाथ नहीं छुवा सकती, हृदयमें झझकती है गुलाबके झांवेसे पांव झवाती है। सम्बन्धा-तिशयोक्ति ॥ ५३९ ॥

मैं बरजी कैबार तू, उत कत लेत करोंट। पँखुरी लगे गुलाबकी, परिहैं गात खरोंट ५४०

अन्तरंग सखीका वचन, मैंने तुझे कईबार निषेध किया तू उधरको करवट क्यों लेती है, गुलाबकी पँखुरी लगैंगी तो शरीरमें खुरेंट पड जायगी, अथवा फूल गेंद खेलते समय सखीने कहा उस ओरकी करवटसे क्यों ब-चाव करती है, गुलाबकी पँखुरीसे खुरेंट पड जायँगी। संबंधातिशयोक्ति ॥ ५४० ॥

ज्यों कर त्यों चहुँटी चलै, ज्यों चहुँटी त्यों नारि। छबिसों गतिसी लै चलति, चातुर कातानिहारि ॥ ५४१ ॥

जैसे हाथ चलते हैं वैसेही चुटकी चलती है, जिस भाँति चुटकी चलती हैं उसी भांति गरदन हिलती है

शोभासे गति ले चलती है इस प्रकार चातुर कातनेवाली " जातिअलं० " ॥ ५४१ ॥

गर्भिणी वर्णन ।

दृग थिरको हैं अधखुले, देह थको हैं ढार । सुरत सुखितसी देखियत, दुखित गर्भके भार ॥ ५४२ ॥

नेत्र चञ्चल, अधखुले, देह थाकित सुरतके अंतमें जैसे सुखीसी दीखती है, उस प्रकार यह गर्भके भारसे दुःखित है " जातिअलंकार " ॥ ५४२ ॥

गँवारि वर्णन ।

गोरी गदकारी परत, हँसत कपोलनि गाड । कैसी लसत गँवारि वह, सुनकिरवाकी आड ॥ ५४३ ॥

गोरी गुदगुदी है, हँसते हुए गालोंमें गढे पडते हैं सुन-किरवाकी आड लगाये वह गँवारी कैसी शोभित होती है, सुनकिरवा एक कीडा है, इसको सौनपटीला कहते हैं, इसके पंख पन्नेके रंगके होते हैं "जाति अलंकार" ॥ ५४३

प्रफुलाहार हिये लसै, सनकी बेंदी भाल । राखत खेत सरीखरी, खरे उरोजन बाल ॥ ५४४ ॥

रतिमहिमा ।

प्रफुल्ल (कुंडा) वृक्षके फूलोंका हार छातीपर शोभा देता है माथेपर सनके फूलकी वेंदी लगाये है खरे उरोज स्तनवाली खडी खडी खेत रखाती है "श्लेषालंकार" ॥

चमक तमक हांसी सिसक, मसक झपट लिपटानि । ए जहँ रतिसोरति मुकति, और मुकति अति हानि ॥ ५४५ ॥

चमकना तमकना हँसी सिसकारी मसकना झपटना और लिपट जाना यह जहां रति है वेही रति मुक्त हैं और मुक्तिकी तो अतिहानि है ॥ ५४५ ॥

तनकौ झूँठनि स्वादलौ, क्यौं न बात परिजाय । तिय मुखरति आरंभकी, नहिं जूंठिये मिठाय ॥ ५४६ ॥

तनकभी झूंठसे स्वादवाली बात स्वादहीन हो जाती है. परन्तु प्रियाके मुखसे रतिके आरंभकी झूंठि नहींही प्यारी लगती है । अयुक्तायुक्त ॥ ५४६ ॥

जो न युक्ति पिय मिलनकी, धूरि मुकति मुँह दीन । ज्यों लहिये सखि सजनतौं, नरक नरकहू कीन ॥ ५४७ ॥

जो प्यारेके मिलनेकी युक्ति नहीं है तो मुक्तिके मुखमें

धूरि दी और जो सजनका संग मिले तो नरकका भी डर मैंने त्याग किया "अनुज्ञा" ॥ ५४७ ॥

प्रभातवर्णन

कुंजभवन तज भवनको, चलिये नन्द-किशोर । फूलत कली गुलाबकी, चटकाहट चहुँओर ॥ ५४८ ॥

हे नन्दकिशोर ! अब कुञ्जभवनको त्यागकर भवनको चलिये कारण कि, गुलाबकी कली फूलती है उसको चट-काहट चारों ओर है अथवा चिडियोंकी चुचुहाटके समान कली चटकती है तात्पर्य यह कि, प्रभात होगया "काकोक्ति" ॥ ५४८ ॥

हिंडोरा वर्णन ।

हेरि हिंडोरे गगनते, परी परीसी टूटि । धरी धाय पिय बीचही, करी खरी रसलूटि ॥ ५४९ ॥

हे सखी ! देख यह हिंडोरेरूपी आकाशसे परीसी टूट-कर ज्योंही गिरी कि, प्रीतमने दौडकर बीचहीमें धारण किया बडी खरी रसकी लूट की, अथवा प्यारीको हृदय लगाय रस लूटकर खरी करी "जमकउपमेयलुप्ता" ५४९

बरजे दूनी हठ चढैं, नास कुचै न सँकाइ । टूटति कटि दुमची मचक, लचकि लचकि बचि जाइ ॥ ५५० ॥

प्रीतमके बरजनेसे दूनी होड चढती है हिंडोलेपर न सकुचती है न डरती है दोनों ओरके बोझसे कमर लचकती है अर्थात् नितम्ब और छातीके बोझसे लचक २ कर बचजाती है। "तृतीय विभावना वीक्षालंकार" दुमची-झोटालेना ॥ ५५० ॥

जलविहारवर्णन ।

ले चुभकी चलिजात तित, जित जल-केलि अधीर। कीजत केसरनीरसों, तित तित केसरनीर ॥ ५५१ ॥ ॥

प्रिया जलमें गोता मारकर जिधर तिधर चली जाती है और जलकेलीमें अधीर होरही है, अपने शरीरमें लगे केशरके नीरसों जिधर तिधर केशरका नीर करती है "धर्मलुप्तालंकार" ॥ ५५१ ॥

विहँसति सकुचतिसी हिये, कुच आँचर-बिच बाँह। भीजे पट घरको चली, न्हाय सरोवरमाँह ॥ ५५२ ॥

हृदयमें सकुचती और मनमें हँसतीसी छातीके अंचलके बीच हाथ दिये सरोवरमें स्नानकर प्रिया भीजे वस्त्र घरको चली "जातिअलंकार" ॥ ५५२ ॥

मुख पखार मुडहर भिजैं, शीश सजलकर छाय। मोरि उँचै घुन्दैनुनै, नारि सरोवर न्हाय ॥ ५५३ ॥

मुख धोय जल हाथमें ले शिरको छुआय बालोंको भिजोय मुडकर ऊँची होकर घुटनोंतक नवकर नारि सरोवरमें स्नान करती है "जातिअलंकार" ॥ ५५३ ॥

छिरके नाह नवोढ दृग, करि पिचकी जल जोर । रोचनरँग लाली भई, विय तिय लोचनकोर ॥ ५५४ ॥

प्रीतमने जलके जोरसे नवोढाके नेत्र छिडके, और उसी समय दूसरी सौतके नेत्रोंके कोयोंमें गोरोचनके समान लालीहुई "असंगति" ॥ ५५४ ॥

चलत ललित श्रमस्वेद कण, कलित अरुणमुख ऐन । वनविहारथाकी तरुनि, खरे थकाये नैन ॥ ५५५ ॥

चलनेसे जो मनोहर पसीनेके कण आगये उससे मुखरूपी स्थान लालीकी शोभायुक्त हुआ; और जब विहार, कर तरुणी थकित हुई तब उसके प्रीतमके नैन उसे देखते देखते थकित होगये । "जाति०" ॥ ५५५ ॥

बढत निकसी कुच कोररुचि, कढत गौरभुज मूल । मनु लुटगो लोटनु चढत, चूटत ऊँचे फूल ॥ ५५६ ॥

प्रियवचन सखीसे, जिस समय वह ऊँचा हाथकर फूल चोंटरही अर्थात् तोड रही थी उस समय खिले हुए उसके

कुचके कोरकी कांतिको बढते, तथा गोरी भुजाकी मूल और त्रिवली देखकर मेरा मन लुटगया। "विभावना" ॥

अपने गुहिकर आपही, हिय पहिराइ लाल। नौलसिरी औरे चढी, मौलसिरीकी माल ॥ ५५७ ॥

कृष्णने अपने हाथसे आपही गूँथकर प्यारीके हृदयमें माला पहराई उस मौलसिरीकी मालासे बालाके नई शोभा कुछ औरही चढी। "भेदकातिशयोक्ति छेकानुप्रास" नौल-नवल ॥ ५५७ ॥

तू ज्यों उझकि झाँपति वदन, झुकति बिहँसि सतराय। तू त्यों गुलाल झुठी झुठी, झझकावतु पिय जाय ॥ ५५८ ॥

तू ज्यों २ उझककर मुख ढकती है निहुडती और हँसती है त्यों गुलालकी झूठी मूठीसे प्रीतम झझका जाता है। "पर्यायोक्ति स्वभावोक्ति" ॥ ५५८ ॥

पीठ दियेही नेक मुरि, कर घूँघटपट टारि। भरि गुलालकी मूठिसों, गई मूठसी मारि ॥ ५५९ ॥

वह पीठ फेरेही नेक मुरिकर हाथसे घूंघटपट टारकर गुलालकी मूठी भरकर जादूकी मूठसी मारगई। "जाति-अलंकार जमक" ॥ ५५९ ॥

दियो जु पिय लखि चखनिमें, खेलत फागु खियाल। बाढतहू अतिपीर सुनि, काढत बनत गुलाल ॥ ५६० ॥

हे सखी ! उसके प्रीतमने जो फाग खेलते समय उसकी आंखोंमें गुलाल डाल दिया अतिपीर बढनेपर भी गुलाल काढते नहीं बनता पीर होनेका कारण यह कि, प्रीतमके दर्शनमें बाधा पडती है । "अनुज्ञालंकार" ॥ ५६० ॥

छुटत मुठी संगहि छुटी, लोकलाज कुल-चाल । लगे दुहिन इकबारही, चलचित नैन गुलाल ॥ ५६१ ॥

मूठीके छुटते साथही लोकलाज और कुलकी चाल छुटी दोनोंके चलचित्त नयन और गुलाल एक साथही लगे । "सहोक्ति" ॥ ५६१ ॥

गिरे कम्पि कछु कछु रहे, कर पसीज लपटाय । डारत मुठी गुलालकी, छुटत झुँठी ह्वै जाय ॥ ५६२ ॥

हे सखी ! कुछ तो हाथ कम्पित होनेसे गिरताहै कुछ हाथ पसीज रहेहैं उनसे लपट जाता है गुलालकी मुट्ठी डालते हैं परन्तु छूटतेही झूंठी होजाती है सात्त्विक होनेसे हाथमें कम्प और पसीजना होताहै "विशेषोक्ति" ॥ ५६२ ॥

ज्यों ज्यों पटक झटक हटति, हसति नचावति नैन । त्यों त्यों निपट उदारहू, फगुआ देत बनै न ॥ ५६३ ॥

प्यारी ज्यों ज्यों वस्त्रको पटकती झटकती हटकती नेत्र नचाती हँसती है त्यों त्यों निपट उदार प्रीतमकोभी फगुआ देते नहीं बनता, आशय यह कि; फगुआ देदेनेसे फिर यह लीला न करैगी "विशेषोक्ति" उदारता होकर भी न देना ॥ ५६३ ॥

रस भिजये दोऊ दुहुनि, तउ टिकरहे टरैं न । छबिसों छिरकत प्रेमरँग, भरि पिचकारी नैन ॥ ५६४ ॥

रससे दोनोंने दोनोंको भिजो दिया, तो भी डटरहे हैं टारेसे टलते नहीं छबिसे प्रेमका रंग छिडकते हैं और वह प्रेमका रंग नेत्रोंकी पिचकारीमें भरते हैं "रूपक" [ रस-प्रेम, जल ] ॥ ५६४ ॥

छकि रसाल सौरभ सन, मधुर माधुरी गन्ध । ठौर ठौर झौरत फिरत, भौंरभीर मधु अंध ॥ ५६५ ॥

मोरकी सुगन्धसे छकके तथा मीठी माधुरी गंधमें सनकर मकरन्दके मद्यसे अंधीहुई भौंरोंकी भीर ठौर ठौर गूंजती फिरती है । " जाति अलंकार " ॥ ५६५ ॥

दिशि दिशि कुसुमित देखिये, उपवन विपिनसमाज । मनहु वियोगनको कियो, शरपञ्जर ऋतुराज ॥ ५६६ ॥

दिशा दिशाओंमें उपवन और वनका समाज फूलाहुवा है मानों वसन्तऋतुने वियोगियोंको बाणोंका पींजरा किया है, जैसे बहेलिये पक्षियोंको पकडनेको जाल बिछाते हैं इस प्रकारसे वसन्तने फूलोंका पींजरा किया है विरहीनोंके विरुद्ध किया है " उत्प्रेक्षालंकार " ॥ ५६६ ॥

फिर घरको नूतन पथिक, चले चकित चितभागि । फूल्यो देखि पलाशवन, समुहे समुझि दवागि ॥ ५६७ ॥

नवीन पथिक चकित चित्त होकर घरको फिरकर भाग चले, वनमें ढाका फूला देखकर सामने आग लगी हुई जानी " भ्रान्त्यलंकार " ॥ ५६७ ॥

नाहिं न ये पावक प्रबल, लुऐं चलत चहुँपास । मानहु विरहवसन्तके, ग्रीषम लेत उसास ॥ ५६८ ॥

यह प्रबल अग्नि नहीं है, जो चारों ओर लुऐं चलती हैं मानों वसन्तके विरहमें ग्रीष्म उसास लेती है । " हेतूत्प्रेक्षा" ॥ ५६८ ॥

कम्हलाने एकत रहत, अहि मयूर मृग बाघ। जगत तपोवनसो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥ ५६९ ॥

दुःख पाकर एकत्र रहते हैं सर्प, मोर, मृग और सिंह ग्रीष्मकी बडी गरमीने संसारको तपोवनसा करदिया है जैसे तपोवनमें सब जीव निर्वैर रहते हैं इस प्रकार गरमीसे व्याकुल हो यह सब जीव एकत्र स्थित हैं। "पूर्णोपमा" दीरघबडी। दाघ–दाह। निदाघ–गरमी ॥ ५६९ ॥

बैठिरही अति सघनवन, पैठि सदन मन-माँहि। निरखि दुपहरी जेठकी, छाहौं चाहत छाँहि ॥ ५७० ॥

अतिघने वनमें, अथवा मनरूपी घरमें बैठरही जेठकी दुपहरी देखकर छाँहभी छाँह चाहती है वृक्षके नीचे छाँह मानों दुपहरी देखकर आती है आशय यह कि, ज्येष्ठमें सघन वन या मनके भीतरही छाँह मिलसकती है "हेतूत्प्रेक्षा" ॥ ५७० ॥

पावस घन अँधियारमें, रहो भेद नहिं आन। राति द्योस जान्यो परे, लखि चकई चकवान ॥ ५७१ ॥

वर्षाऋतुके घने अंधकार और रात्रिमें कुछ भेद नहीं रहा केवल चकवा चकवीकोही देखकर रात दिनका बोध

होता है जब वह पृथक् हो बोलने लगते हैं तब रात जब संयुक्त होते हैं तब दिनका बोध होता है। "परिसंख्यालंकार" पावस वर्णन है ॥ ५७१ ॥

तिय तरसोहैं मुनि किये, करि सरसोहैं नेह।
धर परसोहैं ह्वै रहे, झरबरसोहैं मेह ॥५७२॥

हे तिय ! तैंने प्रेमसे सरस करके मुनिजन भी तरसते हुए करदिये यह झरसे वरसनवाले मेघ पृथ्वीको छूते हुएसे होरहे हैं ॥ ५७२ ॥

कुढँग कोप तजि रँगरली, करत युवति जग जोय । पावस बात न गूढ यह बूढीहू रँग होय ॥ ५७३ ॥

अरी मानवती यही कुढंगका क्रोध त्यागकर; जगमें जो रंगीली स्त्री है सो आनंद करती है पावसऋतुमें यह बात छिपी नहीं है बूढियोंकोभी रंग होता है "काव्यलिंग ओर श्लेष' ॥ ५७३ ॥

हठ न हठीली करसकै, इहि पावस ऋतु पाय।
आन गांठि छुटिजाय त्यों, मान गांठि छुटि जाय ॥ ५७४ ॥

इस पावस ऋतुको प्राप्त करके हठीली हठ नहीं करसकती । पावस (वर्षा) को पाकर जेसे ओर गांठ छुट

आती है इसी प्रकार मान गांठभी छुट जाती है "विभा-
वनालंकार" ॥ ५७४ ॥

वेऊ चिरजीवी अमर, निधरक फिरो कहाय । छिन बिछुरै जिनकी नाहिं न, पावस आव सिराय ॥ ५७५ ॥

वेही चिरंजीवी अमर कहाकर निधडक फिरो कि, जिनकी वर्षाऋतुमें क्षणमात्रकोभी पृथक् होनेकी प्रतिष्ठा नहीं गई है, अर्थात् जो पियाके बिना पावसमें जीती रहें वेही अमर जानो ' मरणाक्षेपालंकार ' ॥ ५७५ ॥

अब तज नाम उपायको, आयो सावनमास। खेलन रहिबो खेमसों, केम कुसुमकी बास ॥

सखी अब सावन महीना आगया विरह दूर होनेके उपायका नाम त्याग दो कदम्बफूलकी गन्धसे कुशल-पूर्वक रहना कोई खेल नहीं है " लोकोक्ति " शरद-वर्णन ॥ ५७६ ॥

घन घेरो छुटिगो हरषि, चली चहूँ दिशि राह । कियो सुचैनो आय जग, शरद शूर नर नाह ॥ ५७७॥

मेघोंका घेरा छूटगया प्रसन्न हो चारों दिशाओंके मार्ग चले शरद ऋतुरूपी शूर राजाने आकर जगत्‌को सुचैन किया ' रूपालंकार ॥ ५७७ ॥

अरुणसरोरुह कर चरण, दृग खंजन मुखचंद । समय आय सुन्दरि शरद, काहि न करत अनंद ॥ ५७८ ॥

लाल कमलरूपी हाथ पैर, खञ्जन नेत्र, चन्द्रमारूप मुखसे सुन्दर शरदका समय आकर किसको आनंदित नहीं करता " रूपकालंकार " ॥ ५७८ ॥

हेमन्तवर्णन ।

ज्यों ज्यों बढति विभावरी, त्यों त्यों बढत अनन्त। ओक ओक सबलोक सुख, कोक शोक हेमन्त ॥ ५७९ ॥

ज्यो ज्यों रात बढती है, त्यों त्यों सबलोकमें घर घर आनंद बढते हैं हेमन्तमें चकवाकोंको शोक है कारण कि, बडी रातमें उनको अधिक वियोग होता है "निदर्शनालंकार" ॥५७९ ॥

मिलि विहरत बिछुरत मरत, दम्पति जगत अति रसलीन । नूतन विधि हेमन्त सब, जुराफा कीन ॥ ५८० ॥

दोनों स्त्री पुरुष रसमें लीन होकर विहार करते हैं वियुक्त होतेही मृतकवत् दुःखी होते हैं जाडेने अनोखी रीतिसे सब जगत् जुराफेके समान किया है जुराफा एक पक्षी होताहै ईरानमें इसको गावपलंग कहते हैं पैर गाय-

केसे, रंग चीतेकेसा, आशय यह कि, जैसा वह रंगबिरंगा होताहै इसी प्रकार उसने जगत्को रंग बिरंगा किया है अर्थात् माह पूषमें लोग अनेक प्रकारकी छींट शाल दुशाले पहरकर रंग बिरंगे होजाते हैं अथवा जुराफः अफरीका देशके नूबह देशका पशु है यह सिंहके समान चित्तल और ऊंटके समान लम्बी गर्दनवाला होता है इनका जोडा बिछडतेही दम्पतिका मरण होताहै " रूप-कालंकार " ॥ ५८० ॥

किया सबै जग कामवश, जीते सबै अजेय । कुसुम शरहिं शर धनुषकर, अघ-हन गहन न देय ॥ ५८१ ॥

जिसने सब जगत्को कामके आधीन किया, सब अजेयोंको जीतलिया अगहनका महीना उसी कामदेवको धनुष बाण हाथमें धारण करने नहीं देता अर्थात् जाडेसे उसके हाथ पैरभी सुकडते हैं " अभिप्राय विशेष " ५८१

आवत जात न जानियत, तेजहि तजि सि-यरान । घरहि जमाईलों घस्यो, खस्यो पूष-दिनमान ॥ ५८२ ॥

आते और जाते जाना नहीं जाता तेजको त्यागकर शीतल होगया है घरमें जमाईकी सम घुसा हुआ पूषका

दिन खसकता है आशय यह ससुरालमें जमाईभी सकुचवश शीतल हुआ रहताहै " पूर्णोपमा " ॥ ५८२ ॥

तपन तेज तपताप तन, तूल तुलाई माह। शिशिर शीत क्योंहु न घटै, बिन लपटै तिय बांह ॥ ५८३ ॥

सूर्यके तेजसे आगके तापनेसे रुईकी रजाईसेभी माहके महीनेमें बिना प्यारीको भुजा भरके लपटाये शिशिरका शीत किसी भांति नहीं घटता। " परिसंख्या " [ दो०—कहुं तो अर्थ निषेधकर, और कहूं ठहराय ॥ तेहि परिसंख्या कहत हैं, सो यहँ प्रगट लखाय ॥ ] ५८३

लगत सुभग शीतल किरण, निशदिन सुख अवगाहि। माह शशी भ्रम सूरत्यो, रहत चकोरी चाहि ॥ ५८४ ॥

सूर्यकी किरण दिन रातके समान सुखदायक और शीतल विदित होती है दिनमेंही यह सुख विचारकर माह महीनेमें चकोरी सूरजको भ्रमसे चन्द्रमा जानकर देखरही है " भ्रांति अलंकार " ॥ ५८४ ॥

रह न सकी सब जगतमें, शिशिरशीतके पास। गरमि भाज गढमें गई, तिय कुच अचल मवास ॥ ५८५ ॥

शीतके त्राससे गरमी इस जगत्में रह नहीं सकी इस-कारण तियके कुचरूपी पहाडके मवासपर गढमें भाज-कर गरमी हुई अर्थात् छिपी । मवास-शरणस्थान "लुप्तोत्प्रेक्षारूपकालंकार" ॥ ५८५ ॥

रणित भृंग घंटावली, झरित दान मधुनीर ।
मन्द मन्द आवत चल्यो, कुञ्जर कुञ्ज समीर

भौंरोंकी ध्वनिही मानों घंटोंका समूह है, मधु नीररूप जिसमें मद झरता है इस प्रकार कुञ्जमें पवनरूपी हाथी सहज सहज चला आता है "रूपकालंकार" ॥ ५८६ ॥

रुक्यो सांकरे कुञ्जमग, करत झांझ झुक-रात । मन्द मन्द मारुत तुरंग, खुदरत आ-वत जात ॥ ५८७ ॥

संकीर्ण कुञ्जमार्गमें रुककर झांझ करता और झुक-राता है सहज २ पवनरूपी घोडा खूँदता हुआ आता जाता है । सांकरे-कमचौडा । झांझ-चिरचिराहट । झुकरात-इधर उधर झकोरालेना, खुदरत-खूँदना "रूपका-लंकार" ॥ ५८७ ॥

चुवत स्वेद मकरन्दकण, तरु तरु तर विरमाय । आवत दक्षिणते चल्यो, थक्यो बटोही वाय ॥ ५८८ ॥

परागका कणही पसीना चूता है, प्रत्येक वृक्षके नीचे ठहरता हुआ थके हुए पथिकके समान वायु दक्षिणसे आता है। विरमाय-ठहरना "रूपकालंकार" ॥५८८॥

रहेरुके क्यौंहू सुचलि, आधिक राति प-धारि। हरति ताप सब द्योसको, उरलगि यार बयारि ॥ ५८९ ॥

दिनभर रुके रहे कहीं चलकर फिर आधीरातको पधारे यार ( मित्र ) रूप पवनने हृदयसे लगकर सब दिनके ताप हरलिये हैं "छेकापह्नुति" अथवा नायकाने कहा दिनभर कहीं रहकर रात्रिके समय हृदयसे लग ताप दूर किया है ( सखीने कहा ) यार बालाने कही पवन॥५८९॥

लपटी पुहुप पराग पट, सनी स्वेदमक-रन्द। आवत नारिनवोढलों, सुखद वायगति मन्द ॥ ५९० ॥

फूलोंके परागरूपी वस्त्र और फूलोंके रसरूपी पसीनेसे सनी सुख देनेवाली पवन मन्दगतिसे नवोढा स्त्रीके समान आती है नवोढा नई विवाहिता "रूपकालंकार"॥५९०॥

चटक न छांडत घटतहू, सज्जन नेह गँभीर। फीको परै न बर घटै, रँगो चोल रँग चीर५९१

स्नेहमें गंभीर सज्जन धन आदिसे घटतेभी चटक नहीं छोडते बल घटनेसेभी मंजीठका रँगा कपडा फीका नहीं

पडता "अर्थान्तरन्यासालंकार" [ दोहा:—कही जाय कहुँ बात जो, अर्थान्तर चलिजाय। सो अर्थान्तर न्यास है, बुध जन परत लखाय ॥ ५९१ ॥

दुर्जनवर्णन।

नये विसासिये अतिनये, दुर्जन दुसह स्वभाव। आंडे परि प्राणन हरै, कांटेलौं लगि पांव ५९२

हे मित्र! दुर्जन दुःसह स्वभाववालोंका विश्वास न करो चाहे अतिनम्र होते हों अथवा नये विश्वासीकी ओर मत देख यह कांटेके समान पांवमें लगकर दांव पडनेसे प्राण-तक हरण करलेते हैं। "पूर्णोपमा" ॥ ५९२ ॥

जेती सम्पति कृपणकी, तेती तू मत जोरि। बढत जाँय ज्यों ज्यों उरज, त्यों त्यों होत कठोर ॥ ५९३ ॥

जितनी सम्पत्ति कृपणके यहां है उतनी तू मत जोड देखो ज्यों २ कुच बढते जाते हैं त्यों २ कठोर होते जाते हैं। "दृष्टान्तालंकार" ॥ ५९३ ॥

नीच हिये हुलसे रहैं, गहे गेंदके पोत। ज्यों ज्यों माथे मारिये, त्यों त्यों ऊँचो होत ॥

गेंदका गुण ग्रहण किये नीच लोग मनमें प्रसन्न रहते हैं ज्यों ज्यों उनके माथेमें मारे त्यों२ ऊँचे होते हैं "दृष्टा-न्तालंकार" कृपणके समान धन संग्रह करनेवालेकी निन्दा है ॥ ५९४ ॥

कोटि यतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहि बीच । नल बल जल ऊँचे चढै, अन्त नीचको नीच ॥

चाहै कोई कोटि यतन करै परन्तु स्वभावमें अन्तर नहीं पडता देखो नलके बलसे जल ऊँचे चढता है परन्तु अन्तमें नीचेहीको आता है नीच प्रकृति है ( नल-फुहारेका ) "दृष्टान्तालंकार" ॥ ५९५ ॥

गढ रचना वरुनी अलक, चितवन भौंह-कमान । आव बँकाईही बढै, तरुणि तुरंगम तान ॥ ५९६ ॥

गढकी रचना, बरौनी पलकके बाल अलक (ज़ुल्फ़) चितवन भौंह कमान तरुणी ( स्त्री ) घोडा और हाथी इनकी आव ( प्रतिष्ठा ) बांकेपनसेही बढती है, अथवा तुरंगम घोडा और ताप "दीपिकालंकार" ॥ ५९६ ॥

तन्त्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति-रंग । अनबूडे बूडे तरे, जे बूडे सब अंग ॥

वीणाका शब्द, कविताईका रस, रसभरे राग रतिरंग, जो इनमें नहीं डूबे हैं सो तो डूबे और जो इनमें सर्वांगसे डूबे हैं वे तरे हैं " विरोधाभास" ॥ ५९७ ॥

सम्पति केश सुदेश नर, नवत दुहुँनि यक बानि । विभव सतर कुच नीचनर, नरम वि-भवकी हानि ॥५९८॥

सम्पत्तिमें केश और भले मनुष्य नवते हैं दोनोंकी एकही बान है, जेसे ऐश्वर्यमें कुच और नीच नर कठोर होते हैं ऐश्वर्यकी हानिमें नरम होते हैं "दीपकमालालंकार" जहाँ उपमान उपमेयसे एक पदलगता है वह दीपक माला ॥ ५९८ ॥

कैसे छोटे नरनसों, सरत बडनके काम ।
मढो दमामो जात है, कहिं चूहेके चाम ५९९

छोटे मनुष्योंसे बडोंके काम किसप्रकार सर सकते हैं कहीं चूहेके चामसे ( दमामा ) ऊँट पर रखनेका नगाडा मढा जासकताहै कभी नहीं "दृष्टांत" ॥ ५९९ ॥

ओछे बडे हुए सके, लगि सतरोहे वैन ।
दीरघ होहिं न नेकहूं, फारि निहारे नैन ६००

क्या छोटे बडे हो सकते हैं, सेखीके वचन कहकर नहीं हो सकते, फाडकर देखनेसे नेत्र कुछ भी बडे नहीं होते "दृष्टान्तालंकार" ॥ ६०० ॥

इति श्रीकविवर विहारीलालकी सतसईमें पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्रकृत भाषाटीकासहित छठाशतक पूर्णहुआ ॥ ६ ॥

---

प्यासे दुपहर जेठके, थके सबै जल शोधि । मरु धर पायम तीरही, मारू कहति पयोधि ॥ ६०१ ॥

दुपहरके प्यासे जेठ महीनेमें पथिक सब ओर जल ढूंढ कर थकगये, और मारवारकी भूमिमें बडे तरबूजको पाकर उसको दूधका सागर कहते हैं, यह मारवाडमें जाकर कहाथा "प्रहर्षणालंकार" ॥ ६०१ ॥

विषम वृषादिककी तृषा, जिये मतीरानि शोधि । अमित अपार अगाध जल, मारो मूंड पयोधि ॥ ६०२ ॥

कठिन वृषके सूर्य ( ज्येष्ठ महीने ) की प्यासमें जो कि, दुःसह होती है, उसमें जो मनुष्य तरबूजको ढूंढ जल पान करते हैं वे कहते हैं कि, इसके सामने महा अपार गहरे जलवाले समुद्रको शिरसे मारो अर्थात् सागरसे हमें कुछ काम नहीं । "अन्योक्तिअलंकार" ॥ ६०२ ॥

अति अगाध अति ऊथरो, नदी कूप सर बाय । सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय ॥ ६०३ ॥

नदी कूप सरोवर बावडीका अति गहरा या उथला पानी हो परन्तु उसका वही सागर है जहां जिसकी प्यास बुझजाय, किसी पुरुषकी उम्र किसी कामिनीसे लगी-

ओर उसकीही गुणकथा गाई इसपर सखीने कहा "अन्योक्तिअलंकार" ॥ ६०३ ॥

मीत न नीति गलीत है, जो धरिये धन जोरि । खाये खरचे जो बचै, तो जोरिये करोरि ॥ ६०४ ॥

हे मित्र ! यह नीति नहीं जो अपनी दुर्दशा बनाकर धन जोड रक्खे जो खाये खरचेसे बचै तो करोडों जोडो "सम्भावना" ॥ ६०४ ॥

दुसह दुराज प्रजानमें, क्यों न करै अति-द्वंद । अधिक अँधेरो मिलि करत, मिलि मावस रवि चंद ॥ ६०५ ॥

कठिन बुरे राज्यमें प्रजाके दुःख और क्लेश क्यों न बढें अमावसके दिन सूर्य चन्द्रमा एक राशिपर होकर अधिक अंधकार करते हैं "दृष्टांत" जयसिंहके उपराम समय कहा है ॥ ६०५ ॥

घर घर डोलत दीन है, जन जन याचत जाय । दिये लोभ चश्मा चखनि, लघु पुनि बडो लखाय ॥ ६०६ ॥

घर घर दीन होकर डोलता है प्रत्येक जनको याँचता जाता है जिसकी आंखोंमें लोभका चश्मा लगा है उसको छोटा भी बडा दीखता है "रूपक" ॥ ६०६ ॥

बसै बुराई जासु तनु, ताहीको सन्मान ॥ भलो भलो कहि छाँडिये, खोटे ग्रह जप दान

जिसके शरीरमें बुराई होती है, उसीका सन्मान होता है भलेको तो अच्छा कह छोड देते हैं, परन्तु खोटे ग्रहका जप दान करते हैं "लौकिकदृष्टान्त" ॥ ६०७ ॥

कहैं यहै श्रुति स्मृतिनसों, सबै सयाने लोग । तीन दबावत निकसही, राजा पातिक रोग ॥ ६०८ ॥

वेदशास्त्र और सब सयाने लोग यह बात कहते हैं कि, राजा पाप और रोग यह तीनों निर्बलको तुरत दबाते हैं अथवा राजा निर्बलको अबल देहको रोग दबाते हैं निकस-निर्बल " दीपकालंकार " ॥ ६०८ ॥

इक भीजे चहले परे, बूडे बहे हजार । कितने अवगुण जग करत, नैवे चढती बार॥

कोई भीगे कोई चहले ( दलदल ) में पडे कोई डूबे और सहस्रों बहगये नई अवस्थारूपी नदीके चढते समय कितने अवगुण नहीं करती है "उल्लासालंकार" ॥ ६०९॥

गुणी गुणी सब कोउ कहत, निगुणी गुणी न होत । सुनो कबहुँ तरु अर्कते, अर्क समान उदोत ॥ ६१० ॥

सब कोई गुणी २ कहते हैं परंतु किसीके कहनेसे निर्गुणी गुणी नहीं होता, कहीं किसीने आकके पेडसे सूरजके समान चांदना सुना है अर्क—सूरज और आक "न्यासालंकार" ॥ ६१० ॥

संगति सुमति न पावही, परे कुमतिके धंध। राखो मेल कपूरमें, हींग न होय सुगंध॥

जो बुद्धि कुमतिमें फँसजाती है तो फिर मनुष्य संगतिसे सुमति नहीं पाता चाहे कपूरमें डाल रक्खो परन्तु हींगमें सुगंध नहीं होती "अतद्गुणालंकार"॥ ६११

सबै हँसत करतार दे, नागरताके नाँव। गयो गर्व गुणको सबै, बसे गमेले गाँव॥

नागरता चतुराईके नामसे सब ताली बजाकर हँसते हैं, गँवारू गांवमें निवास करनेसे गुणका गर्व सब जातारहा "लेखालंकार" ॥ ६१२ ॥

सोहत संग समानसों, यहै कहैं सब लोग। पानपीक ओठन बनै, काजर नैनन योग॥

संग समानसे शोभित होताहै, सब लोग यही कहते हैं, पानकी पीक होठोंमें भली लगती है, और काजर नेत्रोंहीके योग्य है, होठ लाल हैं पानकी पीकभी लाल है नेत्र श्याम हैं काजरभी श्याम है, इस कारण दोनों शोभा योग्यतासे पाते हैं "समालंकार" ॥ ६१३ ॥

जो शिरधर महिमा मही, लहियत राजा राव। प्रगटत जडता आपनी, मुकुट पारियत पाँव ॥ ६१४॥

जिसको शिरपर धारण कर राजा और राव संसार अपनी बडी प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं, यदि मुकुटको पाँवमें पहरे तो अपनी जडता प्रगट करतेहैं आशय यह कि; श्रेष्ठ लोक मुकटके समान हैं उनको जो शिर धरते अर्थात् आदर करते हैं वे बडाई पाते हैं, जो निरादर करते हैं वे अपनी मूर्खता प्रगट करते हैं "अन्योक्तिअलंकार"॥६१४

अरे परेखो क्यों करै, तुही विलोक विचारि। केहि नर केहि सर राखिये, खरे बढेपर पारि ॥ ६१५ ॥

अरे अब परीक्षा कौन करे तूही विचारकर देख अच्छी प्रकार बढते किस मनुष्य और किस सरोवरने मर्यादा रक्खी है "दीपकालंकार" ॥ ६१५ ॥

बुरे बुराई जो तजैं, तौ मन खरो सकात। ज्यों निकलंक मयंक लखि, गिनैं लोग उत्पात ॥ ६१६ ॥

जो बुरे बुराई त्यागदें तो उनसे मन बहुत डरता है जैसे निष्कलंक चंद्रमाको देखकर लोग उत्पात मानते "दृष्टान्तालंकार" ॥ ६१६ ॥

भाँवरि अनभाँवरि भरो, करो कोटि बकवाद। अपनी अपनी भाँतिको, छुटै न सहज सवाद ॥ ६१७॥

रुचिमें अरुचि करो करोड बकवाद करो परन्तु अपनी २ भाँतिका सहज स्वभाव नहीं छुटता आशय यह कि, सहजमें किसीकी प्रकृति नहीं छुटती अथवा सखी कृष्णसे कहती है हे लाल ! तुम्हारा पराये घरोंमें डोलनेका और प्यारीका मान करनेका स्वभाव पडा है सो नहीं छूटनेका "विशेषोक्ति" ॥ ६१७ ॥

जाको एकौ एकहू, जग व्योसाय न कोय। सो निदाघ फूले फल, आक डहडहो होय ॥

जिसको जगत्‌में एकभी नहीं व्योसाता, अर्थात् कोई साथी नहीं, और न कुछ सामर्थ्य है वह आकका पेडभी गरमीमें फलता फूलता और हराभरा होता है अथवा जिसके बढनेसे जगत्‌में एकको भी लाभ न हो वह नर फूले फलेभी ऐसे हैं जैसे गरमीमें डहडहा आकका पेड "अन्योक्ति" ॥ ६१८ ॥

को कहिसकै बडेनसों, लखी बडी औ भूल। दीने दई गुलाबकी, इन डारन यह फूल ६१९

बडोंसे उनकी बडी भूल देखकर भी कौन कहसकता

है विधाताने ऐसी कटीली डालीमें यह कोमल सुगंधित गुलाबके फूल लगाये हैं "अन्योक्ति" ॥ ६१९ ॥

शीतलतरु सुवासकी, घटै न महिमा मूर ।
पीनसवारे जो तजो, सोरा जान कपूर ६२०

इससे शीतलता और सुगंधकी महिमा नहीं घट सकती जो पीनस ( नाकका रोग नाकसे कीडे गिरते हैं ) रोगवालेने शोरा जानकर कपूर त्यागन कर दिया, इस रोगीको गंधका ज्ञान नहीं होता "अन्योक्ति" ॥ ६२० ॥

चितदे भजै चकोर ज्यों, तीजे भजै न भूँख ।
चिनगी चुगै अँगारकी, पिये कि चंदमयूख॥

मन देकर चकोरको देखो कि, तीसरी भांति उसकी भूँख नहीं जाती या आगकी चिनगारी चुगती है वा चंद्रकिरण पीती है "अन्योक्ति" ॥ ६२१ ॥

चले जाहु ह्यां को करै, हाथिनको व्यवहार ।
नहिं जानत यहि पुर बसैं, धोबी और कुम्हार

ह्यांसे चले जावो यहां कोई हाथियोंका व्यापार नहीं करता नहीं जानते इस पुरमें धोबी और कुम्हार रहते हैं आशय यह यहां निर्गुणियोंकी गाहकी है गुणियोंकी नहीं राजधानी त्यागके समय कहा होगा "अन्योक्ति" ॥ ६२२

नरकी अरु नलनीरकी, एक गती कर जोय ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊंचो होय॥६२३॥

मनुष्यकी और नलके पानीकी एकही गति देखी गई है कि जितना नीचा होकर चलैगा उतनाही ऊँचा होगा कहीं जेतो ऊंचोहो चले पाठ है वहां यह अर्थ है कि, कमल और मन जल और धन बढनेसे जितना ऊँचा होगा सम्पत्ति न रहनेसे उतनाही नीचा होगा नलनीर–कमल "रूपक" ॥ ६२३ ॥

समय समय सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय। मनकी रुचि जेती जितै, तिन तेती रुचि होय ॥ ६२४ ॥

समय २ पर सब सुन्दर लगते हैं रूप कुरूप कोई नहीं है मनकी जितनी रुचि जिधर होती है उधर वह उतनीही सुन्दर विदित होती है "परिसंख्या" ॥ ६२४ ॥

गिरिते ऊंचे रसिकमन, बूडे जहां हजार। वहै सदा पशु नरनको, प्रेमपयोधि पगार ॥

पहाडसे ऊँचे रसिकोंके हजारों मन जहां डूब गये वही प्रेमका समुद्र पशु मनुष्योंको पगार है जिस जलमें पांव- मात्र डूबता है उसको पगार कहते हैं. आशय यह कि, मूर्ख प्रीतिरस नहीं जानते "रूपकालंकार" ॥ ६२५॥

संगति दोष लगै सबनि, कहते सांचे वैन। कुटिल बंक भ्रूसंगसे, कुटिल बंक गति नैन ॥ ६२६ ॥

संगतिका दोष सबको लगताहै यह सब सच्चे वचन कहते हैं, देखो टेढी भौंहकी संगतिसे कुटिल और टेढी गतिवाले नेत्र होते हैं " उल्लासालंकार " ॥ ६२६ ॥

मोरचन्द्रिका श्याम शिर, चढि कत करति गुमान । लखबी पाँयनि पर लुटति, सुनियत राधा मान ॥ ६२७ ॥

हे मोरचंद्रिका ! श्रीकृष्णके शिरपर चढकर क्यों गुमान करती है ? सुना है कि, राधाके मान मनाते समय तू उनके चरणोंमें पडी है " पर्यायोक्ति " ॥ ६२७ ॥

गोधन तू हरष्यो हिये, घरि इक लेहु पुजाय । समुझ परैगी शीशपर, परत पशुनके पाय ॥ ६२८ ॥

हे गोवर्द्धन पर्वत ! मनमें प्रसन्न होकर तू घरीभरको अपनी पूजा कराले परन्तु जब अनेक पशुओंके चरण तुझपर पडेंगे तब समझ पडेगी, जो महात्माओंके अभावमें अपनेको पुजाते हैं उनपर " अन्योक्ति " ॥ ६२८ ॥

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल । अली कलीहीसों बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥ ६२९ ॥

अभी न पराग है न मधुर मधु है न अभी विकास

( खिला ) है कलीमेंही भौंरा बिंधरहा है जाने आगे क्या हाल होगा मुग्धापर आसक्त पुरुषके प्रति "भ्रमरोक्ति "॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीत बहार । अब अलि रही गुलाबमें, अपत कटीली डार ॥ ६३० ॥

हे अलि! भौंरे जिन दिनोंमें मैं फूल देखे थे वह बहार अब बीतगई, अब तो गुलाबकी पत्तेहीन कटीली डाली शेष है रूपयौवनहीं जनके प्रति "भ्रमरोक्ति" ॥ ६३० ॥

इहि आशा अटक्यो रहै, अलि गुलाबके मूल । हुइ हैं बहुरि वसन्त ऋतु, इन डारन वे फूल ॥ ६३१ ॥

उत्तर-इस आशासे भौंरा गुलाबकी मूलमें अटका पडाहै कि, फिर वसन्तऋतु होगी तो इन डालियोंपर वे फूल लगेंगे "अन्योक्ति" ॥ ६३१ ॥

सरस कुसुम डारत अलिन, झुकि झपटत लपटात । दरसत अति सुकुमार तनु, परसत मन न पत्यात ॥ ६३२ ॥

अति रसीले फूलपर भौंरा चरण नहीं डालता झुककर झपटकर नहीं लपटता मँडराता है अति सुकुमार शरीर दीखता है इस कारण छूतेमें मन नहीं पतियाता, आशय यह कि, मुग्धाको प्रीतम कोमल शरीर जान कसकर

आलिंगन नहीं करता, परन्तु लालचके मारे छोडताभी नहीं "अन्योक्ति" ॥ ६३२ ॥

पट पांखे भख कॉंकरे, सफर परेई संग।
सुखी परेवा जगतमें, एकै तुही विहंग॥६३३॥

पंखही वस्त्र हैं, अकरा आदि कंकरसे अन्न भक्षण करता सफरमें अपनी परेईको साथ लिये एक परेवाही पक्षी इस जगत्में सुखी है, विदेशीको दीन देख कविवचन "परिसंख्या" ॥ ६३३ ॥

दिन दश आदर पायके, करले आप बखान। ज्यों लगि काक शराध पख, त्यों लगि तव सन्मान॥ ६३४ ॥

जो थोडे दिनकी प्रभुतापर अभिमानमें फूल उठते हैं उनपर काकोक्ति-हे काक। दश दिनकी प्रभुताई पाकर अपने आपका कितनाही बखान करले जबतक श्राद्धका पक्ष है तबतकही तेरा सन्मान है "अन्योक्ति" ॥ ६३४॥

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखि विहंग विचारि। बाज पराये हाथ पर, तू पक्षीहि न मारि॥ ६३५ ॥

अपना स्वार्थभी नहीं, कुछ इस कार्यमें पुण्यभी नहीं, केवल वृथा श्रम है, पक्षी विचार देख इस कारण हे बाज! पराये हाथपर बैठा हुआ ( निष्प्रयोजन ) तू पक्षियोंको

मत मार ! बाजके प्रति उक्ति दुष्ट मनुष्यके सेवक जो अनर्थ करते हैं उनके प्रति ॥ ६३५ ॥

**मरत प्यास पिंजरा परचो, सुआ समयके फेर। आदर देदे बोलियतु, वायस बलिकी वेर ॥**

समयके फेरसे तोता पिंजरेमें पडा प्यासा मरता है, बलिके समय (श्राद्धपक्षमें) कोआ आदर देदेकर बुलाया जाता है "शुकोक्ति" गुणीके सन्मुख निर्गुणीके आदरमें ॥ ६३६ ॥

**को छूटो यहि जाल परि, मत कुरंग अकुलाय। ज्यों ज्यों सुरझ भज्यो चहै, त्यों त्यों उरझो जाय ॥ ६३७ ॥**

हे कुरंग ! इस जालमें पडकर कोई नहीं छूटा तू मत अकुलावे ज्यों ज्यों सुरझ कर भाजा चाहता है त्यों त्यों उलझा जाता है अपनी तृष्णा पूर्ण कर विरक्त होजायमे उनसे "कुरंगोक्ति" है ॥ ६३७ ॥

**नहिं पावस ऋतुराज यह, तज तरुवर मति भूल। अपत भये बिन पाय है, क्यों न बदल फल फूल ॥ ६३८ ॥**

हे वृक्ष ! यह वर्षाऋतु नहीं वसन्तऋतु है मतिकी भूल त्याग न करदे अपत हुए बिना नवीन फल फूल नहीं मिलैंगे अर्थात् राजसेवकके दुःखपर "तरुवरोक्ति" ६३८॥

अजौं तरौनाहीं रह्यो, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसर लहो, बसि मुक्तनके संग॥

भक्तवचन परमार्थ विषय, एक रंगसे श्रुतिका सेवन करनेवाला आजतक नहीं तरा परन्तु मुक्तोंके साथ बसकर बेसरने नाकका स्थान पाया एकरंगसे श्रुति ( कान ) का सेवन करके ( तरौना ) कर्णफूल नहीं तरा पर ( मुक्तन ) मोतियोंके साथ निवास करके बेसरनेभी नाक ( स्वर्ग ) नासिकाका वास पाया है। भक्तिपक्षमें श्रुति-वेद। बेसर-एकमात्र निर्द्वन्द्व पुरुष नाक स्वर्ग उसका नाम तरौना वा तारनेवाला श्रुति ( वेद-कान ) की संगतिसे हुआ, इसका नाम मुक्तनर मोती मुक्तपुरुषोंकी संगतिसे बेसर ( अनुपम ) हुआ "श्लेषालंकार" ॥ ६३९ ॥

जनम जलधि पानिप अमल, तौ जग आव अपार। रहै गुणी ह्वै गर परचो, भलो न मुकताहार ॥ ६४० ॥

समुद्रसे जन्म निर्मलरूप संसारमें बडा मोल मर्यादावान् गुणी ( डोरेयुक्त ) है है मोती। ऐसे बुद्धिमान् होकर भी दूसरोंके गले पडेहो इसमें हीनता होगई है अर्थात् गुणियोंको किसीके गले न पडना चाहिये "अन्योक्ति"॥

गहै न एकौ गुणगरब, हँसै सकल संसार।
कुच उँच पद लालच रहै, गरे परेहू हार ६४१

तू मनमें एकभी गुणका अभिमान नहीं रखता इस कारण तुझको सब संसार हँसता है कुचरूपी उच्चपदके लालचसे पराये गलेमें पडा रहता है हारके अर्थ मोतीहार और हीनता जैसे कोई गुणी उच्चपदके निमित्त राजाके गलै पडे उसपर कथन है "अन्योक्ति" ॥ ६४१ ॥

मूँड चढायेहू रहै, परो पीठ कचभार । गरे परे पहँ राखिये, तऊ हियपर हार ॥ ६४२ ॥

मूँड चढनेपरही बालोंका बोझ पीठपर डाला जाता है गले पडनेपर तोभी हार हृदयपरही रक्खा जाता है ६४२

पाय तरुणि कुच उच्चपद, चिरमि ठग्यो सब गाउँ । छुटे ठौर रहिहै वहै, जु हो मोल छबि नाउँ ॥ ६४३ ॥

चौंटलीने तरुणीके स्तनरूपी उच्चपदको प्राप्त करके सब गाँव ठग लिया है अब ठौर छुटनेपरभी वही मोल वही छबि और वही नाम रहैगा, चिरमी—चौंटली नीचके उच्चपद प्राप्त होनेपर यह कथन है ॥ ६४३ ॥

वे न यहां नागर बडे, जिन आदर तो आब । फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गाँव गुलाब ॥

जिनको तेरी सुघराईका आदर है वे बडे चतुर पुरुष यहां नहीं हैं, हे गुलाब ! गाँवमें फूलाहुआ भी अनफूले

हुएके समान है ( मूर्खोंमें गुणीका गुण प्रकाशित नहीं होता ) ॥ ६४४ ॥

कर ले सूंघि सराहिकै, रहे सबै गहि मौन । गंधी गंध गुलाबको, गँवई गाहक कौन ६४५

हाथमें ले सूँघकर सराहना कर सब गँवार मौन होरहे हे गन्धी ! गुलाबकी गन्धका गाँवमें कौन ग्राहक है जो मोल ले ऐसाही गुणीका मूर्खोंमें गुण प्रकाश करना है "अन्योक्ति" ॥ ६४५ ॥

करि फुलेलको आचमन, मीठो कहति सराहि । चुपकरि रहु गंधी चतुर, अतर दिखावत काहि ॥ ६४६ ॥

ग्रामीण फुलेलका आचमन कर सराहना कर मीठा कहने लगे, हे चतुर गंधी ! चुपकर, अतर किसको दिखात है मूर्खोंके आगे चतुरकी विडम्बनामें उक्ति ॥ ६४६ ॥

कनक कनकते सौगुणी, मादकता अधिकाय । उहि खावे बौराय जग, यह पाये बौराय ॥ ६४७ ॥

( कनक ) धतूरेसे ( कनक ) सोनेमें सौगुणी मादकता अधिक है वह खानेसे बौरा होता है परन्तु सुवर्णके पातेही जग बौरा जाता है "व्यतिरेकालंकार" ॥ ६४७ ॥

बडे न हूजे गुणन बिन, बिरद बडाई

पाय । कहत धतूरेसों कनक, गहने गढो न जाय ॥ ६४८ ॥

गुणके विना यश बडाई पाकर बडा होना उचित नहीं धतूरेकोभी कनक ( सोना ) कहते हैं परन्तु वह गहनेमें नहीं गढा जाता है " अन्तरन्यास " ॥ ६४८ ॥

हास्यरसवर्णन ।

रवि वन्दो कर जोरकै, सुनत श्यामके वैन । भये हँसोहे सबनिके, अति अनखोहे नैन ६४९

जिस समय गोपियें चीरहरणके समय हाथसे अंग छिपाय जलसे बाहर हुई तब कृष्णने कहा हाथ जोड सूर्यको प्रणाम करो यह सुनकर बालाओंके क्रोधभरे नेत्रोंमें हँसी आगई " पर्यायालंकार " ॥ ६४९ ॥

कण देव्यो सौंप्यो ससुर, बहू थुरहथी जानि । रूप रहिचढे लगि लग्यो, मांगन सब जग आनि ॥ ४५० ॥

ससुरने बहूको छोटे हाथकी जानकर अन्न देना सौंपा उसके रूपके लालचसे सब जगत्के लोग आनकर मांगनेलगे "विषादालंकार" अन्न थोडा उठेगा इस कारण काम सौंपा सो उसके विरुद्ध अधिक उठनेलगा इससे विषाद हुआ ॥ ६५० ॥

परतिय दोष पुराण सुनि, हँस मुलकी सुखदानि। कसकरि राखी मिश्रहू, मुंह आई मुसकानि ॥ ६५१ ॥

पुराणमें पराई स्त्रीके गमनका दोष सुनकर सुखदायक बाला मुसकाकर हँसी, इधर मिश्र ( पुराणवक्ता ) नेभी मुख आई मुसकान दबाकर रक्खी "अनुमान" ६५१

च्चित पितुघातक योग लखि, भयो भये सुत सोग। फिर हुलसो जिय जोतसी, समझो जारज योग ॥ ६५२ ॥

पुत्र होनेपर पितुघातक योग देखकर ज्योतिषीको पुत्रके होनेका शोक हुआ फिर जारजयोग जानकर प्रसन्नहुए आशय यह कि, जारसे उत्पन्न है ऐसा होनेसे जारका घातक है इस कारण प्रसन्न हुए "लेखालंकार' ॥६५२॥

बहुधन ले अहसानके, पारो देति सराहि। वैदवधू हँसि भेदसों, रही नाह मुखचाहि ॥

वैद्य बहुतसा धनले अहसानकर सराहना करके दूसरोंको पारा देताहै परन्तु इस बातसे हँसकर वैद्यकी स्त्री भेदसे स्वामीका मुख देखकररही " अनुमानालंकार " हँसनेसे वैद्यमें नपुंसकताका अनुमान है ॥ ६५३ ॥

गोपनके अँसुअनभरी, सदा असोत

अपार । डगर डगरने हैरही, बगरबगरके बार ॥ ६५४ ॥

उद्धवजीका वचन श्रीकृष्णसे गोपियोंको आंसुओंसे भरी विनाही सोतेवाली न सूखनेवाली अपारनदी ब्रजकी गली गलीमें नहीं किन्तु घर घरके बाहर होरहीहै "अत्युक्तालंकार ॥ ६५४ ॥

श्याम सुरतिकर राधिका, तकत तरणिजा तीर । अँसुवनि करति तरोंसके, क्षणक खरोंहे नीर ॥ ६५५ ॥

हे कृष्ण ! तुम्हारी सुरतकर राधिका यमुनाके तटको ताकती है आँसुओंसे क्षणमात्रमें तरोंसके जलको खारा कर देती है तरोंस-तलछट, " उल्लासालंकार " खरोंह–खारी अथवा गुनगना, करोंह पाठमें आंसुओंसे मिलनेसे काला ॥ ६५५ ॥

लोये कोपे इन्द्रलों, रोपे प्रलय- अकाल । गिरिधारी राखे सबै, गो गोपी गोपाल ॥

हे उद्धवजी ! जिस समय कृष्णने इन्द्रका यज्ञ लोपा तब उसने कोपकर अकालप्रलय ( रोपा ) करनी चाही उस समय गिरि धारण करके सब गौ और गोपालकी रक्षा की थी " परिकरांकुरवृत्त्यनुप्रासालंकार," [ दो०–अभिप्रायके सहित जहँ, हो विशेष्य सुखदान । परिकरांकुर तेहि कहत, कविजन परमसुजान ॥ ६५६ ॥

हौं हारी कैकै हहा, पाँइन पारो प्यौर।
लेह कहा अजहूँ किये, तेहतरेरे त्यौर॥

हम सब हाहाखाय समझा २ वा कह कहकर हारगई तथा प्रीतमको पाँवमें डाला इससे तू क्या लेगी जो अब भी क्रोधसे बडी २ आँखें कर देखरही है "विशेषोक्ति"॥

अनी बडी उमडत लखै, असिवाहक भटभूप। मंगल कारि मान्यो हिये, भोमुख मंगलरूप॥ ६५८॥

शत्रुका कटक बडा चारों ओरसे उमडा देखकर खड्गधारी वीर राजा ( जयसाह ) ने उसे मनमें मंगल करके माना और मुख मंगलरूप ( लालवर्ण ) हुआ। मंगलका लालवर्ण है " विभावना " ॥ ६५८॥

नाह गरज नाहर गरज, वचन सुनायो टेरि। फँसी फौज बिच बन्दिमें, हँसी सबनि मुख हेरि॥ ६५९॥

रुक्मिणीहरणका समय, मत्तासिंहकी गरजसे गरजे और सबको पुकारकर यह वचन सुनाया, विरोधियोंकी सेनाकी बंदिमें फँसी, और सब राक्षसोंका मुख देख हँसी॥

डिगत पानि डिगलातगिरि, लखि सब ब्रज बेहाल। कम्प किशोरी दरशते, खरे लजाने लाल॥ ६६०॥

हाथके हलनेसे गोवर्द्धनपर्वतभी हिलता है यह देखकर सब ब्रज बेहाल होगया, राधिकाको देखकर ( सात्त्विक होनेसे ) कम्प हुवा इस कारण स्वयं लाल ( कृष्ण ) लजायें आशय यह कि, ब्रजवासी न जानें कि, राधिकाकी प्रीति है "हेतुअलंकार" ॥ ६६० ॥

प्रलय करन बरसनलगे, जुरि जलधर इकसाथ। सुरपति गर्व हरो हरषि, गिरिधर गिरिधर हाथ ॥ ६६१ ॥

जिस समय सब मेघ एकसाथ जुरकर वर्षा करने लगे उस गिरधारीने प्रसन्न हो हाथपर पर्वत धारण कर इंद्रका गर्व हरण किया 'काव्यलिंग' ॥ ६६१ ॥

यों दल काढे बलखते, तैं जयसाह भुआल। उदर अघासुरके परे, ज्यों हरि गाय गुवाल॥

जिस समय जयशाहकी सेना बलखपर चढकर ऐसी घिरी कि, कहीं मार्ग दिखाई नहीं देताथा तब कौशलसे जयशाहने निकाली उसपर कहते हैं हे जयशाह! तैंने बलखबुखारेके घेरेमेंसे इस प्रकार अपनी सेना निकाली कि, जैसे अघासुरके उदरसे कृष्णने गाय ग्वाल निकाले थे "दृष्टांतालंकार" ॥ ६६२ ॥

मोहनि मूरति श्यामकी, अति अद्भुत गति

जोय । बसत सुचित अंतर तऊ, प्रतिबिंबित जग होय ॥ ६६३ ॥

श्यामकी मनमोहनी मूर्तिकी अद्भुत गति तो देखो कि, चित्तके अन्तरमें निवास करती है और छाया संसारमें दृष्टि आती है मलीन जगत्में भी ब्रह्मनिष्ठको श्यामका प्रतिबिंब दीखता है यह अद्भुतगति है अद्भुत सुविचार "विशेषअलंकार" ॥ ६६३ ॥

या अनुरागी चित्तकी, गतिसमझै नहिं कोय। ज्यों ज्यों बूडै श्यामरंग, त्यों त्यों उज्वल होय

इस प्रेमवाले चित्तकी गति कोई नहीं समझता है कि, ज्यों ज्यों श्यामरंगमें डूबता है त्यों त्यों निर्मल होता है अर्थात् शृंगारमय होता है "विषमालंकार संभावना" ६६४

सोरठा ।

मैं समझो निरधार, यह जग काचो काँचसो। एकैरूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत जहाँ॥

मैंने विचारकर देखलिया, यह जगत् कच्चा काँचसा है जिसमें परमात्माके एकरूपके अनन्त प्रतिविम्ब देखे जाते हैं "पूर्णोपमा" ॥ ६६५ ॥

दो०-कोऊ कोटिक संग्रहो, कोऊ लाख हजार । मो संपति यदुपति सदा, विपति विदारनहार ॥ ६६६ ॥

कोई करोड कोई लाख हजार द्रव्यका संग्रह करो परन्तु मेरी सम्पात्ति तो विपात्ति विदारणहार सदा यदुपतिही है "व्यतिरेक" ॥ ६६६ ॥

यमकरि मुँहतर हरपरचो, यह धरहर चितलाय। विषय तृषा परिहरि अजौं, नर हरिके गुण गाय ॥ ६६७ ॥

यमरूपी हाथी नीचा मुख किये तले पडा है; यह मनमें धारण कर हरिमें चित्त लगा विषयरूपी तृष्णाको अब भी छोडकर नृसिंहजीके गुण गान कर 'परिसंख्या' ६६७

जप माला छापा तिलक, सरै न एको काम॥ मनकाचे नाचे वृथा, साँचे राचे राम ॥६६८॥

जप माला छापा तिलक इनसे एक भी काम नहीं निकलता है जो मन कच्चा है तो नाचना वृथा है राम तो साँचसे मिलते हैं अथवा जप-माला छापा तिलक करनेसे पुराने क्या नयेका भी काम निकल जाता है, मन कच्चे और वृथाही नाचे परन्तु राम साँचे ही मिले जप माला छापासे एक अपराधीकी रक्षा हुई थी राजाकी आज्ञा थी मच्छी मत मारना एक धीमर इस आज्ञाको उल्लंघन कर मच्छी मारने लगा उधरसे राजाकी सवारी आई तब यह झट टीका लगाय जालके दानोंकी माला फेरने लगा राजा प्रणाम कर चला गया "परिसंख्या" ॥ ६६८ ॥

जगत जनायो जिन सकल, सो हरि जा-न्यो नाहिं । ज्यों आंखन जग देखिये, आंख न देखी जाहि ॥ ६६९ ॥

जिन हरिने सब जगत उपजाया है, वे जाननेमें नहीं आते जैसे आंखसे सब जगत देखता है परन्तु आंख नहीं देखी जाती "दृष्टांत" जनाया-उपजाया चेतन किया ॥

भजन कह्यो तातें भज्यो.भज्यो न एको बार । दूर भजन जातें कह्यो, सो तैं भज्यो गँवार ॥ ६७० ॥

हे मन ! भजन करनेको कहा और तू उससे भागा एक वारभी उसका भजन न किया, हे गँवार ! जिससे दूर भागना ( विषयसे ) कहा है सो तैंने भजन किया "जमक" आशय यह कि, ईश्वरको न भजा विषयको भजा ६७०

पतवारी माला पकरि, और न कछु उपाव । तरि संसारपयोधिको, हरिनामें करि नाव ॥

पतवाररूपी माला पकड और कुछ उपाय नहीं है इस प्रकार परमात्माके नामकी नावको आश्रयकर संसारसागरके पार होजा " रूपक " ॥ ६७१ ॥

यह बिरियाँ नाहिं औरकी, तू किरिया वह शोधि । पाहन नाव चढाय जेहि, कीन्हो पार पयोधि ॥ ६७२ ॥

यह समय औरका नहीं है हे मन! तू उस पार उतार-नेवालेकी खोजकर जिसने पत्थरपर अपने नामसे रीछ वानरोंको चढाकर सागर पार करदिया "काव्यलिंग" ॥

दूर भजत प्रभु पीठ दै, गुणविस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुण निकटरहि, चंगरंग भूपाल ॥

गुण विस्तारके समय पीठ देकर दूर भागजाते हैं निर्गुणके पासही प्रगट होते हैं, प्रभु राजा चंगके समान हैं अथवा चंग और कलिके राजाकी समानता वर्णन की है स्वामीके पाससे दूर भागते हैं. अर्थात् डोरा और राजस बढानेके समय दूर भागते हैं. जिस समय ( डोरा ) गुणा बढाया जाता है चंग दूर चला जाता है, और स्वामीके निकट निर्गुणता प्रकट करते हैं, आशय यह कि, डोरा पाकर जैसे चंग दूर जाता है, इसी प्रकार रजोगुणकी शक्ति पानेसे राजा प्रभुको भूल जाते हैं, और जब वह अपना रजोगुणी ऐश्वर्य खैंचलेता है तब दीन दुःखी हो आठ पहर प्रभुको मनाते हैं अथवा प्रभुके गुण विस्तार समय विषय पीठ देकर भागते हैं, तब गुणीकी खोज होती है कोई क्षीरसागर और कोई वैकुंठमें खोज करते हैं, जब निर्गुणब्रह्म कहा जाता है तब व्यापक होनेसे निकटही भासता है आशय यह कि, रज तमकी वृद्धिमें चंगकी भांति प्रभुसे दूर होता है। "श्लेषालंकार" ॥ ६७३ ॥

नट्टुवालों प्रभुकर गहै, निर्गुणी गुण लपटाय।
वहै गुणी करते, छुटै, निर्गुणीपै ह्वै जाय६७४

लट्टूकी भाँति जब प्रभु हाथमें पकडते हैं तब निर्गु-णको गुण लिपटता है वही गुणी हाथसे छूटनेसे निर्गुणी होजाता है आशय यह कि, जयशाह जिस निर्गुणीको अपने पास रखते हैं वह गुणी होजाता है और छूटनेपर निर्गुणी होता जैसे लट्टू "श्लेषालंकार पूर्णोपमा" ॥ ६७४ ॥

जात जात वित होत है,ज्यों जियमें संतोष।
होत होत जो होय तो, होय घरीमें मोष६७५

धन जाते २ मनमें संतोष होता है होते २ भी धन जो संतोष होता घडीमें वा घरहीं मुक्त होय "विभावना" ६७५

ब्रजवासिनको उचित धन, सो धन रुचित न कोय। सुचित न आयो सुचितई, कहो कहांते होय ॥ ६७६ ॥

ब्रजवासियोंका उचित धन श्रीकृष्णके प्रेमरूपी धन किसीके चित्तमें न आया तो पवित्रता और स्थिरता कहांसे होगी "पर्यायोक्ति व्यावृत्तिदीपकालंकार" ६७६ ॥

मनमोहनसे मोहकरि, तू घनश्याम सँभारि ।
कुंजविहारीसों विहरि,गिरिधारी उर धारि ॥

हे मानवती ! तू मानसे निर्मोही होरही है मनमोहनसे मोह ( प्रेम ) कर इन घनश्याम ( काले मेघ ) को देखकर

उनको संभार वे इस समय कुंजमें स्थित हैं तू भी कुंजमें चलकर उनके साथ विहार कर वे गिरिधारी सबके रक्षक हैं इस समय तू उनको हृदयसे लगाय धारण कर "पुनरुक्तवदाभासालंकार" [ दो०-अर्थ लखे पुनरुक्तसों, अरु पुनरुक्त न होय । सो पुनरुक्त्याभासवत, भूषण कह सबकोय ] ॥ ६७७ ॥

तौ लगि या मनसदनमें, हरि आवैं केहि बाट । निपट विकट जबलों जुटे, खुले न कपट कपाट ॥ ६७८ ॥

तबतक इस मनरूपी घरमें भगवान् किस बाटसे आवैं जबतक अतिविकट भिड़े हुए कपटरूपी किवाँड़ नहिं खुलते " रूपक " ॥ ६७८ ॥

बुधि अनुमान प्रमाण श्रुति, किये नीठ ठहराय । सूक्षम गति परब्रह्मकी, अलख लखी नाँहि जाय ॥ ६७९ ॥

बुद्धि अनुमान और वेदप्रमाणसे मनमें निश्चय ठहरता है परन्तु परब्रह्मकी सूक्ष्म गति होनेसे तथा अलख होनेसे लखी नहीं जाती इसी प्रकार कटिभी सूक्ष्म है तो पर दिखाई नहीं देती "अनुमानालंकार" ॥ ६७९ ॥

या भव पारावारको, उलँघि पार को

जाय । तिय छबि छाया ग्राहिणी, गहै बीचही आय ॥ ६८० ॥

इस जगत्रूपी संसारको उलंघकर पार कौन जा सकता है इसमें तियकी छवि छायाग्राहिणी है सो वीचही आकर पकडलेती है आशय यह कि, स्त्रीसे कोई ही मुक्त होता है छायाग्राहणीने महावीरजीको धरा था "पूर्णोपमा वा दृष्टान्त" ॥ ६८० ॥

तज तीरथ हरि राधिका, तनुद्युति कर अनुराग । जेहि ब्रजकेलिनि कुंजमग, पग पग होत प्रयाग ॥ ६८१ ॥

हे मन ! अनेक तीर्थोंका भ्रमण छोडकर राधाकृष्णके शरीरकी कान्तिमें प्रेम कर, जिस ब्रजकी विहारकुंजके मार्गमें ( पग पगपर प्रयाग होता है, ) श्याम शरीर यमुना, राधिकाकी शोभा गंगा दोनोंका अनुराग सरस्वती है "अनुज्ञा" अथवा हे तिय ! रथ त्याग यहां राधाश्यामके चरणोंमें अनुराग कर इस ब्रजमें पग पगमें प्रयाग होता है, किसीकी स्त्री रथमें बैठी यात्रा करती थी उसके स्वामीने कहा है " काव्यलिंग " ॥ ६८१ ॥

अपने अपने मत लगे, वाद मचावत शोर । ज्यों त्यों सेवो सबहिको, एकै नन्दकिशोर ॥ ६८२ ॥

अपने २ मतेमें लगे सब वृथा शोर मचाते हैं, जैसे तैसे सबका सेवना एकही नंदकिशोर है " परिसंख्या-लंकार " ॥ ६८२ ॥

तो अनेक अवगुण भरी, चाहे याहि बलाय । ज्यों पति सम्पति हू बिना, यदुपति राखै जाय ॥ ६८३ ॥

सम्पत्ति अनेक अवगुण भरी है, इसकी चाहना हमारी बलाय करती है, जो कृष्णचंद्र रक्खैं तो सम्पत्ति बिनाभी पत रहती है "संभावना" ॥ ६८३ ॥

दीरघ साँस न लेहु दुख, सुखसाईं मति भूल । दई दई कत करत है, दई दई सुकबूल ॥ ६८४ ॥

दुःखसे दीर्घश्वास मत ले सुखके स्वरूप भगवान्को मत भूले दैव दैव क्यों करता है जो दैवने दिया है सो अंगीकार कर " चमत्कालंकार " ॥ ६८४ ॥

दियो सुशीश चढाय ले, आछी भाँति अहेरि । जापै चाहत सुखलयो, ताके दुखहि न फेरि ॥ ६८५ ॥

भगवान्ने जो दिया है सो शिर चढाले अच्छी भाँति देख अंगीकार कर जिससे सुख लिया चाहता है उसके दिये दुःखको मत फेरै "विचित्र" ॥ ६८५ ॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि ।
मनो तज्यो तारन विरह, बारिक वारण तारि ॥ ६८६ ॥

हे ईश ! आपनें अच्छी आनाकानी की मेरी पुकार सुनकरभी आनाकानी की, एकबार हाथीको तारकर मानों तारनेका यशही छोड दिया ॥ ६८६ ॥

कौन भांति रहिहै विरद, अब देखनी मुरारि ।
बीधे मोसों आनिकै, गीधे गीधहि तारि ॥

अब तुम्हारा यश किस प्रकारसे रहैगा सो देखना है हे मुरारि ! आप मुझसे आकर अटके हो और परचे हो गिद्धको तारकर अर्थात् मुझको किस प्रकारसे तार सकते हो "काव्यलिंग" ॥ ६८७ ॥

बंधुभये का दीनके, को तारो रघुराय ।
तूठे तूठे फिरतहो, झूंठ विरद कहाय ॥

हे भगवन् ! आप किस दीनके बंधु हुए आपने किसको तारा जो प्रसन्न हो लोकोंसे झूंठा यश कहलानेको फिरतेहो ॥ ६८८ ॥

थोरेई गुण रीझते, बिसराई वह बानि । तुमहू कान्ह मनो भये, आजकालके दानि॥६८९॥

पहले तो थोडेसेही गुणसे रीझ जाते थे अब वह बान बिसरादी, हे कृष्ण । तुम भी मानों आजकालके ठोडी

नटके समान दानी हुए जैसे नट ढोल बजाकर करतब दिखाता है इस प्रकार दो एक कार्य कर आपने विरद विख्यात किया " उत्प्रेक्षा " ॥ ६८९ ॥

कबको टेरत दीनरत, होत न श्याम सहाय । तुमहू लागी जगत गुरु, जगनायक जगवाय ॥ ६९० ॥

हे श्याम ! मैं कबका दीन हो टेरता हूं आप मेरे सहाय नहीं होते हे जगद्गुरु ! आपको भी जगत्की हवा लगी है " उत्प्रेक्षा " ॥ ६९० ॥

ज्यों है हों त्यों होहुँगो, हौं हरि अपनी चाल। हठ न करो अति कठिन है, मोतरिबो गोपाल ॥ ६९१ ॥

जो हूंगा सो होऊंगा, हे कृष्ण ! मैं अपनी रीतिपर हूं तुम हठ न करो मैं महापापी हूँ मेरा तारना अति कठिन है " उत्प्रेक्षा " ॥ ६९१ ॥

करो कुवत जग कुटिलता, तजो न दीन-दयाल । दुखी होहुगे सरलहिय, बसत त्रिभं-गीलाल ॥ ६९२ ॥

चाहे सब संसार मेरी निंदा करे परन्तु मैं कुटिलता न छोडूँगा, हृदय सीधा न करूंगा, हे दीनदयालु ! आप सीधा हृदय करनेसे दुःखी होगे कारण कि, मेरे हृदयमें

त्रिभंगी छबिकी आपकी मूर्त्ति निवास करती है चरण कटि ग्रीवा तिरछी कर खडे होनेको त्रिभंगी कहते हैं सूधे हृदयमें टेढा आपसे न रहा जायगा "काव्यलिंग" ॥

मोहिं तुम्हैं बाढी बहस, को जीतै यदुराज। अपने २ बिरदकी, दुहूँ निबाहनि लाज ॥ ६९३ ॥

हे यदुराज ! मुझमें और तुममें वहस पडी है देखैं कौन जीतै अपने २ बिरहकी दोनों लाज निबाहैंगे अर्थात् मैं तो अपना पतितपन नही छोडूंगा और आप अपना पतित पावनपन नहीं छोडेंगे "विरोधाभास" ॥६९३ ॥

समै पलट पलटै प्रकृति, को न तजै निज चाल । भो अकरुण करुणा करो, यह कपूत कलिकाल ॥ ६९४ ॥

समयके पलटनेसे स्वभावभी बदलता है अपनी चाल कौन नहीं छोडदेता है दयालु ! आप भी करुणारहित हुए अब दया करो यह कलिकाल महाकपूत है "सहोक्ति" ॥ ६९४ ॥

तो बलिये भलिए बनी, नागर नन्दकिशोर । जो तुम नीकेकै लखो, मो करनीकी ओर ॥

मैं बलिहारी जाऊं हे नागरनन्दकिशोर ! तो तो भली

ही बनजाय जो आप भली प्रकारसे मेरी करनीकी ओर देखो " सम्भावना लंकार " ॥ ६९५ ॥

हरि कीजत तुमसों यहै, बिनती बार हजार ।
जेहि तेहि भांति डऱ्यो रहौं, पऱ्योरहौं दरबार

हे हरि ! आपसे वारंवार यही विनती है कि, जिस तिस भांतिसे डरता हुआ आपके दरबारमें पडा रहूं " लोकोक्ति अलंकार " ॥ ६९६ ॥

निजकरनी सकुचौं हिकत, सकुचावत इहि चाल । मोहूसे अतिविमुखसों, सन्मुख होत गुपाल ॥ ६९७ ॥

एक तो मैं अपनी करनीसे सकुचाता हूं फिर आप इस रीतिसे क्यौं सकुचातेहो कि, आप मुझसे अति विमुखके भी सन्मुख होते हो हे कृष्ण ! " परिकरांकुर " ॥ ६९७॥

कीजे चित सोई तरौं, जेहि पतितनके साथ ।
मेरे गुण अवगुण गणनि, गिनो न गोपीनाथ॥

हे कृष्ण ! चित्तमें वही कीजिये जिससे पतितोंके साथ तरजाऊं हे गोपीनाथ ! आप मेरे गुण अवगुणकी गिन्ती न करो "दीपकालंकार" ॥ ६९८ ॥

प्रगटभये द्विजराजकुल, सुबस बसे व्रज आय
मेरे हरो कलेश सब, केशव केशव राय६९९

चन्द्रवंशमें प्रगट होकर ब्रजमें आनकर बसे केशव-भगवान् और केशवराय ( पिता ) मेरे सब क्लेश हरो, पिताके पक्षमें, जो ब्राह्मण श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न हुए और ब्रजमें आनकर बसे "श्लेषालंकार" ॥ ६९९ ॥

सोरठा ।

मोहू दीजे मोष, ज्यों अनेक अधमन दियो ।
जो बांधे ही तोष, तौ बांधो अपने गुणन ॥

हे भगवन् ! मुझे भी आप मुक्ति दीजिये जैसे अनेक अधमोंको दी है और जो बाँधेहीसे संतोष हो तो अपने गुणोंसे बांधो "श्लेषालंकार" ॥ ७०० ॥

चलत पाय निगुणी गुणी, धन मणि मोतीमाल ।
भेंटभये जयशाहसों, भाग चाहियत भाल ॥

गुणी निर्गुणभी जिसको पाकर धनमणि मोतीमाला लेकर जाते हैं जयशाहसे भेंट होनेपर माथेमें भाग्य चाहिये "काकोक्ति" ॥ ७०१ ॥

रहति न रण जयशाहमुख, लखि लाखनकी फौज । जाचि निराखर हू चलै, लै लाखनकी मौज ॥ ७०२ ॥

लाखों मनुष्योंकी सेनाभी युद्धमें जयशाहका मुख देख स्थित नहीं रहसकती और मांगकर निरक्षरभी जिनसे लाखों लेजाते हैं ॥ ७०२॥

प्रतिबिंबित जयशाहद्युति, दीपति दर्पण-धाम। सब जग जीतनको कियो, कायव्यूह मनु काम ॥ ७०३ ॥

शीशमहलमें राजा जयशाहकी परछाहीं दीप्तिको प्राप्त होती है मानों सब जगत् जीतनेको कामदेवने अपनी कायाका व्यूह ( समूह ) रचा है "उत्प्रेक्षालंकार" ॥ ७०३ ॥

घर घर हिन्दुनि तुरकिनी, देत अशीश सराह। पतिनु राखि चादर चुरी, पति राखी जयशाह ॥ ७०४ ॥

घर घरमें हिन्दुओंकी और तुरकोंकी स्त्री सराहना कर अशीश देती हैं कि, हमारे पतियोंकी रक्षा कर जयशाहने हमारी चूरी और चादर रक्खी वैधव्यमें हिन्दुओंमें चूरी और तुरकोंमें चादरका त्याग होता है " उत्प्रेक्षालंकार " ॥ ७०४ ॥

सामा सेन सयानकी, सबै शाहके साथ। बाहुबली जयशाहजू, फते तिहारे हाथ ७०५

सामान सेना चातुर्यीयुक्त सब दिल्लीपतिकी शाहके साथ है परन्तु हे बाहुबली जयशाहजी ! फतह ( जीत ) आपहीके हाथ है 'तुम जहाँ जातेहो जीततेहो' ( दासिगका ) युद्ध है ॥ ७०५ ॥

हुकम पाय जयशाहको, हरिराधिकाप्रसाद।
करी विहारी सतसई,भरी अनेक सवाद७०६

जयशाहका हुक्म पाकर हरि राधिकाके प्रसादसे विहारीदासने अनेक संवादभरी सतसई निर्माण करी ७०६

संवतग्रहशाशि जलधि क्षिति, छठ तिथि वासर चंद । चैतमास पक्ष कृष्णमें, पूरण आनँदकँद ॥ ७०७ ॥

सम्वत् १७१९ में चैत्रकृष्ण छठ चंद्रवारके दिन यह सतसई पूर्ण हुई ग्रह ९ शशि १ जलधि ७ क्षिति १ अंकोंकी वामगतिसे १७१९ सम्वत् हुए ॥ ७०७ ॥

गुरुजन दूजे व्याहको, नितउठि कहत रिसाय । पतिकी पति राखत बधू, आप न बाँझ कहाय ॥ ७०८ ॥

घरके बडे लोग नित उठकर दूसरा व्याह करनेको रिसाकर कहते हैं परन्तु बहू आप बांझ कहाकरभी पतिकी पत रखती है पतिका दोष कथन नहीं करती "जातिअलंकार" ॥ ७०८ ॥

अरे हंस या नगरमें, जैयो आप विचारि ।
कागनसों जिन प्रीतिकर,कोयल दई बिडारि

अरे हंस नगरमें विचारकर जाना कारण कि, यहांके

निवासियोंने कौएसे प्रीति करके कोयलोंको निकाल दिया है "अन्योक्ति" ॥ ७०९ ॥

यदपि पुराने बक तऊ, सरवर निपट कुचाल ।
नये भये तो कहाभये, ये मनहरन मराल ॥

यद्यपि पुराना बगला है तोभी सरोवरपर उसकी अतिही कुचाल है नयेहुए तो क्या हुआ यह हंस मन हरनेवाले हैं ॥ ७१० ॥

सखी सिखावत मानविधि, सैनन बरजति बाल । हरुवे कहि मो हिय वसत, सदा बिहारीलाल ॥ ७११ ॥

सखी मान सिखाती है परन्तु बाला सैनोंमें बरजती है होलेसे कहती है मेरे हृदयमें बिहारीलाल सदा बसते हैं "प्रेमालंकार" ॥ ७११ ॥

ठाढी मंदिरमें लखैं, मोहन दुति सुकुमार ।
तनु थाके हू नाथके, चखचित चतुर निहार ॥

वह सुकुमारी मंदिरमें खडी मोहनकी कोमल कान्ति देखती है शरीर थकनेपरभी उसके नेत्र और चित्त नहीं थके देखेही जाती है "विशेषोक्तिअलंकार" ॥ ७१२ ॥

शशिवदनी मोसों कहत, सो यह साँची बात । नैन नलिन यह रावरे, न्याय निरखि नैजात ॥ ७१३ ॥

आप मुझसे चंद्रमुखी कहते हो सो यह बात सत्य है इसी कारण यह आपके कमलनेत्र मुझे देखकर झुक जाते हैं अर्थात् चंद्रको देख कमल सकुचाता है "हेतूत्प्रेक्षा" ॥

जामृग नैनीके सदा, वेणी परसति पाय। तायदेख मनतीरथनि, विकटनि,जाय बलाय

जिस मृगलोचनीके सदा वेणी ( शिरकी चोटी वा त्रिवेनी ) पांय परसती है उसका दर्शन कर फिर विकट तीर्थोंमें विचरनेको बलाय जाय ( राधिका वर्णन ) ७१४

तजत हठावल हठ परो, शठमति आठों जाम। भयो वाम वा वामको, रहत कामबेकाम ॥ ७१५ ॥

यह शठमति आठों प्रहर हठ नहीं छोडता हठ ग्रहण किये है कामदेव निष्प्रयोजन सदाही उससे प्रतिकूल रहता है वाम–बायाँ प्रतिकूल ॥ ७१५ ॥

पायल पाँय लगीरहै, लगे अमोलक लाल। भोडरहूकी भासि है, बेंदी भामिनि भाल ॥

अमूल्य लाल लगनेसेभी पायल पांवसेही लगी रहती है चाहे अभ्रककीभी है परन्तु बेंदी बालाके माथेपरही शोभित होती है ऊँचे ऊँचेही हैं नीचे नीचेही हैं "अन्योक्ति" ॥ ७१६ ॥

भो यह ऐसोई समय, जहां सुखद दुख देत।
चैत चाँदकी चाँदनी, डारत किये अचेत ॥

अब यह ऐसाही समय आगया सुखदाई वस्तु दुःखदाई होगई चैतके महिनेकी चाँदनी अचेत किये डालती है "व्याघात अलंकार" ॥ ७१७ ॥

यदपि नाहिं नाहीं वही, वदन लगी जक-जाति। तदपि भौंह हांसी भरिनु, हाँसी ये ठहराति ॥ ७१८ ॥

यद्यपि मुखसे नहीं नहीं वही जक लगी जाती है तोभी हँसीसे भरीहुई भौंहोंमें 'हाँ' सीही ठहरती है। अर्थात् मुखमें नहीं भौंहोंमें हाँ है "विरोधाभास" ॥ ७१८ ॥

मुख रूखे मिस रोष मुख, कहत रूखौहे वैन। रूखे कैसे होत यह, नेह चीकने नैन॥

रोषके बहानेसे मुख रूखा किया मुखसे रूखी बातें कहती हैं परन्तु यह नेहसे चिकने नेत्र रूखे कैसे होसकते हैं "काव्यलिंगालंकार" ॥ ७१९ ॥

बाम तमासे करिरही, विवश वारुणी सेइ। झुकति हँसति हँसि हँसि झुकति, झुकि २ झुकि हँसि देइ ॥ ७२० ॥

वारुणी पान करके वाम विवश हो तमासे कररही है कभी खिजाती हँसती फिर झुकती खिजल २ कर हँस देती है "जातिअलंकार" ॥ ७२० ॥

लग्यो सुमन ह्वैहै सुफल, आतप दोष निवारि।
बारी बारी आपनी, सींच सुहृदता वारि ॥

सुमन ( फूल ) लगा है अच्छा फल लगेगा गरमीके दोषसे रक्षा कर अथवा अच्छा मन लगा है फलभी अच्छा लोगा क्रोधरूपी गरमीसे बचाव कर हे वारी । अपनी प्रेमरूपी वाडीको सुहृदतारूप जलसे सींच मान मत कर "श्लेषालंकार" ॥ ७२१ ॥

ललन चलन सुनि चुपरही, बोली आप न ईठ। राख्यो गहि गाढे गरो, मनो गलगली दीठ ॥ ७२२ ॥

लालनका चलना सुनकर चुपरही स्वयं प्रीतमसे न बोली मानो आंसूभरी दृष्टिने कसकर प्यारीका गला पकड रक्खा है " उत्प्रेक्षालंकार " ॥ ७२२ ॥

सकै सताय न तम विरह, निशदिन सरस सनेह। वहै रहै लागो दृगनि, दीपशिखासी देह ॥ ७२३ ॥

रात दिन सनेहके कारण विरहरूपी तम नहीं सता· सकता कारण कि, रात दिन नेत्रोंसे उसकी देह दीपकी शिखासी लगी रहती है " विशेषोक्ति " ॥ ७२३ ॥

इति श्रीपण्डित—ज्वालाप्रसादमिश्रकृत भाषाटीकासहित
विहारीलालकी सतसई सम्पूर्ण।

## प्रशंसा ।

दोहा ।

सतसैयाके दोहरा, ज्यों नावकको तीर। देखतके छोटे लगैं, बेधैं सकल शरीर ॥ १ ॥

सतसईके दोहे नावककेसे तीर हैं देखनेमें छोटे लगते हैं परन्तु सब शरीर बेधते हैं ॥ १ ॥

व्रजभाषा वरणा कविन, बहुविधि बुद्धि विलास । सबकी भूषण सतसई, करी विहारीदास ॥ २ ॥

यद्यपि कवियोंने अपनी बुद्धिके अनुसार अनेकविधि व्रजभाषाको वर्णन किया है परन्तु विहारीदासने सबकी भूषण सतसई निर्माण की है ॥ २ ॥

करे सातसै दोहरा, सुकवि विहारीदास। सबकोऊ तिनको पढैं, गुणैं गुणेश विलास ३

सुकवि विहारीदासने सातसौ दोहे निर्माण किये उनके पढनेसे गुणन करनेसे सुख होता है ॥ ३ ॥

दोहा–राधामाधव पदकमल, प्रेमसहित शिर नाय ।
भाषामें सतसईको, टीका लिखो बनाय ॥ १ ॥
अलंकार अरु अर्थ सब, भावसहित दरशाय ।
कियो सरसटीका सरल, बुधजन लख सुख पाय २

वेद बाण अरु अंक विधु, सम्वत पौष सुमास ।
तेरस तिथि बुधवारको, पूरण किय सुखरास ॥ ३ ॥
बसत रामगंगा निकट, नगर मुरादाबाद ।
भजन करत हरिको तहां, बुध ज्वालापरसाद ॥ ४ ॥
तिन हितसों टीका कियो, राधाकृष्ण मनाय ।
व्रजविलास रचना कछू, भाषामें दरशाय ॥ ५ ॥
जगत विदित श्रीसेठजी, खेमराज सुखदान ।
तिनको सौंपी स्वत्वसह, याहि न छापे आन ॥ ६ ॥
कृष्णराधिका ध्यान धर, भज श्रीराधे श्याम ।
इनहीके परसादसे, सिद्ध होत सब काम ॥ ७ ॥

इति ।

---

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,
" लक्ष्मीवेंकटेश्वर " छापाखाना, कल्याण—मुंबई.

दूसरा पता—खेमराज श्रीकृष्णदास,
श्रीवेंकटेश्वर स्टीम् प्रेस—मुंबई.